बच्चे गवाह नहीं हो सकते ?

पंकज बिष्ट

पहला संस्करण
1986

मूल्य
30 रुपये

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज,
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
नागरी प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-32

विनयशील चोपड़ा और
प्रमोद जोशी को

क्रम

पृष्ठभूमि

अगर यह कहा जाए कि परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही हैं तो सवाल उठता है, परिस्थितियाँ कब नहीं बदलीं ? अंतर सिर्फ यह है कि आज जटिलताएँ पहले की तुलना में कई गुना बढ़ी हैं और इसीलिए उसी अनुपात में रचनात्मक चुनौतियाँ भी। तकनीकी प्रगति ने मानव-समाज और सभ्यता के विकास के, आज तक के, सारे नियम तोड़ दिये हैं, सभ्यता (संस्कृति का भौतिक पक्ष) जितनी तेजी से बढ़ रही है, सांस्कृतिक पिछड़ा-पन भी उसी तीव्रता से महसूस हो रहा है। असल में वह भौतिक प्रगति जो मानवीय मूल्यों से तालमेल बैठाना छोड़ देती है, एक सीमा के पश्चात् 'काउंटर प्रोडक्टिव' हो जाती है। यह बात आज हम जिस शिद्दत से महसूस कर रहे हैं, वैसा संभवत: इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ होगा। यह विश्वव्यापी 'फिनामिना' है। पर हम जैसे अविकसित और पिछड़े समाजों की समस्याएँ और भी जटिल व कई मायनों में ज्यादा खतरनाक इसलिए हैं कि हम एक महाबली पूँजीवादी सभ्यता के प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त हो पाने की जगह और भी अधिक तेजी से उसकी गिरफ्त में कसते जा रहे हैं। इस व्यवस्था को, अपने विकास के लिए, हमारी जरूरत है और इससे हमारा रिश्ता मालिक-नौकर से बेहतर नहीं है। हमारे आगे विकास के नाम पर जो टुकड़े फेंके जा रहे हैं वह सिर्फ इसलिए कि नौकर खुश रहे और पहले से भी बेहतर काम करे। शोषण के तरीके बहुत महीन हो चुके हैं। मनो-विज्ञान एक हथियार है। अगर यह प्रभाव-क्षेत्र पहले औपनिवेशिक शक्तियों के द्वारा बहुत ही 'क्रूड' तरीकों से फैलाया जा रहा था, तो आज यह सांस्कृतिक लेन-देन (कल्चरल एक्सचेंज), 'तकनालाजी ट्रांसफर' और

'मासमीडिया' के नये-नये करतबों के द्वारा फैल रहा है। यह सच है कि औपनिवेशिक दौर ने मानसिक गुलामी की जो आधार-भूमि तैयार की थी उसी पर आज इस सांस्कृतिक-साम्राज्यवाद का वट-वृक्ष फल-फूल रहा है। 'एप्रोप्रिएट तकनालाजी' की चाहे जितनी भी बातें हों, हम एक ऐसी संस्कृति को अपना रहे हैं जो अपने ही समाज में 'हाई तकनालाजी' के चमत्कारों से तालमेल नहीं बैठा पा रही है, जबकि यह सब कुछ उसी समाज में विकसित हुआ है। इसके भी कारण हैं और वह हैं खुद तकनालाजी के अपने नियम। असल में कोई भी तकनालाजी एक सीमा के बाद अपनी शर्तों पर विकसित होना शुरू कर देती है। तब उसकी अपनी जरूरतें होती हैं और अपने ही नियम। कहीं उसके लाभ का सवाल जुड़ा होता है तो कहीं विकास का। फिर मानव लाभ या मानव समाज का विकास उद्देश्य नहीं रह जाता। संभवत: आज हम उसी 'डेड एण्ड' पर पहुँच गये हैं, जहाँ तकनीकी विकास हमारी जरूरत से ज्यादा खुद अपने ही विकास के लिए आवश्यक हो गया है। परमाणु शक्ति इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। इस पर भी पश्चिमी समाज का संकट दूसरा है और हमारा दूसरा।

पश्चिमी समाज ने औद्योगिक विकास की यह यात्रा तीन सौ साल में पूरी की। हम इस जुगाड़ में हैं कि इस सबको आनन-फानन में पा लें। यद्यपि कोई मूर्ख ही यह तर्क करेगा कि हमें उस सारी प्रक्रिया से गुजरना चाहिए पर हमें यह ध्यान तो रखना ही होगा कि आज की परिस्थितियों में हमारे लिए क्या जरूरी है। इसके साथ ही हमारे विकास की दिशा को भी निर्धारित हो जाना है। पर हो यह रहा है कि जब तक हम रेल की बात करते हैं तब तक हवाई जहाज आ जाता है। जब तक हम कोई पुराना-धुराना जहाज जुटाते हैं तब तक राकेट आ जाता है। यह प्रक्रिया बेबाक गति से चल रही है। और हमारा पिछड़ापन भी उसी गति से प्रगति कर रहा है। दूसरी तरफ सच्चाई यह है कि हमारे देश में जितनी पूंजी रेलगाड़ी पर लगी है लगभग उतनी ही पूंजी बैलगाड़ी में भी लगी हुई है। यानी बैलगाड़ी की भूमिका आज भी हमारी अर्थव्यवस्था में रेल से कम नहीं है (राकेट, जहाज, परमाणु शक्ति और अब कम्प्यूटर के बावजूद)। बैलगाड़ी की रफ्तार क्या होती है? तीन-चार कि० मी० प्रति घण्टा और आम रेलगाड़ी

की रफ्तार क्या है अपने देश में ? वीस से पच्चीस कि० मी० प्रति घण्टा। पर कुछ रेलों की रफ्तार एक सौ दस कि० मी० प्रति घण्टा भी है और हमारे पास कुछ आधुनिकतम जैट भी हैं। अव आप जानते ही हैं कि इस तरह की रेल या जहाज किसके लिए हैं। तकनालाजी के इस द्रुतगामी विकास का एक महत्वपूर्ण पहलू हमारे देश के संदर्भ में असंतुलित आर्थिक विकास और शोषण को बढ़ावा देना है।

इस पर शायद ही दो राय हों कि हम आदिम अवस्था और अत्याधुनिक व्यवस्था में (राकेश शर्मा जिंदाबाद) एक साथ रह रहे हैं। जब तक इस आधुनिकता—या कहिए आयातित यान्त्रिक व मानसिक आधुनिकता—और चिरंतन चले आ रहे भारतीय पिछड़ेपन, कट्टरता, भाग्यवाद और हताशा में किसी किस्म का टकराव नहीं था, स्थिति भिन्न थी। उस समाज को समझना आसान था। संभवत: उसका एक यथार्थ-वादी चित्रण भी आसान था, पर आज स्थिति वैसी नहीं रही है, जो कहिए प्रेमचन्द के जमाने में थी। यदि पहले तकनालाजी का विकास और तज्जन्य समस्याएँ भारतीय अधिसंख्य समुदाय तक पहुँचने में कभी-कभी तो सौ साल तक लगा देती थीं, आज इस तकनालाजी के कच्चे-वच्चे इसके वहाँ तक पहुँचने से पहले ही जनता की संवेदना और सोच पर प्रहार करने लगते हैं (दूरदर्शन और ट्रांजिस्टर क्रांति से कौन अपरिचित है) जो अनचाहे ही एक विचित्र किस्म के असंतोष को ही जन्म नहीं दे रहे हैं, वल्कि एक अर्द्ध, कभी-कभी तो नग्न सामन्ती समाज (भागलपुर दण्ड संहिता और मानावत के वाघ की याद है ?) में रह रहे व्यक्ति को, मूल्यहीन, घोर व्यक्तिवादी और एक हद तक भाग्यवादी बनाने में मदद कर रहे हैं। सारी तकनालाजी भारतीय सन्दर्भ में शोषण के इस दोहरे और जटिल चक्र को और अधिक तीव्र कर रही है। हम पर ऐसी मूल्यवत्ता थोपी जा रही है जो शासक वर्ग की है, जो एक विश्वव्यापी शोषण-तन्त्र का अंग है (फास्ट फूड इज़ रेडी)। मुझे 'जारगनों' से घृणा है पर लगता है इसके अलावा शब्द नहीं हैं जो इस स्थिति को और वेहतर ढंग से अभिव्यक्त कर सकते हों। अव नयी संस्कृति मानव जीवन से नहीं उपजेगी, अब वह निर्धारित होगी सोप-आपेराओं से, सिटकाम से, विज्ञापनों से और टी० वी० व फिल्म के अन्य कार्यक्रमों से जो

सेज होना पड़ता है।

क्या मासमीडिया 'पर्सनलिटि कल्ट' और सतहीपन को बढ़ावा देने के अलावा और भी कुछ कर सकता है ? इसका जवाब यह है कि इसके समर्थक चाहे जो कहें ये माध्यम कम से कम हमारे समाज में किसी भी तरह की रचनात्मक भूमिका निबाहने में असफल रहे हैं। कृष्ण सोंधी द्वारा किये गए अध्ययन के अनुसार (कम्युनिकेशन ग्रोथ एण्ड पब्लिक पालिसी) शैक्षणिक रेडियो कार्यक्रम, शैक्षणिक टी० वी०, कृषकों को साक्षर बनाने के कार्यक्रम, कृषि के लिए उपग्रह टी० वी० कार्यक्रम तथा हिंदी फिल्मों का आम जनता पर कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा है।

अनर्गल सूचनाओं का विस्फोट संवेदन-शून्य मानव बना रहा है।

यह वह परिदृश्य है जिसमें आज हम लिख रहे हैं। देर-सवेर हम में से अधिकांश लेखकों को टी० वी० का घातक आकर्षण निगल जाएगा और तब हम लोग भी 'मेड टु आर्डर' माल के 'सप्लायर' हो जाएंगे। मैं निराशा-वादी नहीं हूँ पर रचनात्मक और गम्भीर साहित्य पर आया संकट या कहिए समाज की मूल्यहीनता व व्यक्तित्वहीनता का यह संकट, है इतना ही भयानक। लेखन या कला के सामने जो चुनौतियां हैं वह मालिक-मजदूर, जमींदार-किसान की कहानियों से कहीं अधिक जटिल और कहीं अधिक गम्भीर हैं। इसलिए यदि हम सही अर्थों में समाज के प्रति सजग हैं तो हमें इन सबको पहले समझना होगा। संकट चूंकि इन जटिलताओं से रूबरू होने का ही नहीं है इन्हें 'काउन्टर' करने का भी है इसलिए चुनौतियां भी उतनी ही कठिन हैं। आज मालिक-मजदूर सम्बन्ध उतने सीधे नहीं रहे हैं, इसलिए इन्हें अभिव्यक्त करने के लिए नये फार्म की ही जरूरत नहीं है, बल्कि बद-लते सम्बन्धों को भी ध्यान में रखना आवश्यक हो गया है। रचनात्मक लेखन में इधर के वर्षों में आया सतहीपन और सपाट-बयानी सम्भवतः इसी संकट का एक अनिवार्य परिणाम कहा जा सकता है। पर दूसरी ओर यह उन लेखकों का भी दोष है, जो हम इन शोषण और घुटन के प्रति [illegible] कर रहे हैं। ये असफलताएँ आने वाले वर्षों में हमारी नये रास्ते [illegible] में सहायक होंगी और तब हम एक [illegible] अर्थतन्त्र की विसंगतियों और [illegible] की सही पहचान कर सकेंगे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि हम एक ऐसे फार्म की तलाश करने में सफल हो पाएँगे जो इस समाज का ज्यादा सटीक चित्रण कर सकेगा तो प्रश्न उठ सकता है इसे करेगा कौन? यह सही है कि हममें से अधिकांश लेखक दूरदर्शन की चमक का शिकार हो जाएँगे, पर इसके साथ ही एक बात और भी है, वह है मासमीडिया के इन माध्यमों की संस्थागत सीमाएँ, जो अंततः हर ईमानदार लेखक का इससे जल्दी ही मोहभंग कर देंगी। यही एकमात्र पहलू है जो पूर्ण निराशा से बचाये रखने में समर्थ है। वैसे क्या यह दुहराने की आवश्यकता है कि हर व्यवस्था अपने विनाश के बीज अपने ही भीतर छिपाये रखती है।

इस संग्रह की कहानियाँ 1977 से 1985 के दौरान लिखी गयी हैं। देखना यह है कि मैंने जो कहा है उसका शतांश भी इन कहानियों में कहीं आ पाया है।

आखिरी पहर

ठंड इस बार जल्दी आ गयी है, उसने सोचा, नवरात्रों तक ठहर पाने का का अब सवाल ही नहीं है। वैसे ऐसा भी हुआ है कि बरसात के साथ ही वे लोग लौटने पर मजबूर हुए हैं—जैसे परार के साल! यह उसकी जिंदगी में एक बार हुआ है, पर यहाँ जिंदगी प्रकृति के ऐसे ही असामान्य व्यवहारों के उतार-चढ़ाव के विराम चिन्हों से ही तो बनी है, इन्हें कैसे भुलाया जा सकता है! जैसे क्या इस बार की ठंड और अँधेरा वह कभी भूल सकता है?

पिछले दस दिन से वर्षा थमने को नहीं आ रही थी—मानो वे किसी अजस्र धारा के नीचे बैठे हों। और ठंड ऐसी कि जाड़ों तक में कल्पना आतंक है। अकेलापन, अँधेरा और बीयावान बचपन से ही उसके साथी रहे हैं। पर इस तरह के अंधकार—जब रात और दिन का ही अन्तर मिट जाए—और ठंड से उसका साबका पहली बार ही पड़ा था। परलय-सा टूट पड़ा था, साक्षात। तीन दिन से वे यहाँ पड़े, नदी के उतरने का इंतजार कर रहे थे पर नदी जैसे उतरना ही भूल गयी थी! एक भित्ता था वह न जाने कब का बह गया था। दूसरा रास्ता यह हो सकता था कि सुनढुंगा-वाला गधेरा पार कर वे नीचे बाँयी ओर चले जाएँ। पर तब एक तो उधर रास्ता ही नहीं था फिर न जाने कितनी दूर जाकर गाँव थे, इसका भी उन्हें अनुमान नहीं था। और अंततः आना तो उन्हें ऊपर ही को था। न ही वे पीछे को जा सकते थे, न बायें। दोनों ओर से बर्फीली चोटियों के अंतहीन सिलसिले ने उन्हें घेर रखा था। इतने बिगड़े मौसम में वैसे भी कुछ समय के लिए ही सही, पाछे की ओर जाने का ख्याल नहीं किया जा

सकता था क्योंकि वे वहां से बुग्याल छोड़कर नीचे को आये ही इसलिए थे कि वहां बे-मौसम ही धुंआधार वर्फ पड़ने लगी थी। वरना इस समय तो वहां चमन बना रहने वाला ठहरा। फिर अब उधर जाने का मतलब भी नहीं रह गया था। इस बीच पड़ी वर्फ ने घास ही कहां छोड़ी होगी। और अगर जमीन का एकआध कोई टुकड़ा विना वर्फ का बच भी गया होगा तो भी तो वहां घास सख्त होकर बेकार हो चुकी होगी।

यहां गनीमत थी कि जंगल घना था। वर्षा की गति इससे उतनी तेज नहीं लग रही थी, पर वर्षा और पत्तों की आपसी टकराहट का स्वर काफी तीव्र था, लगातार इस एकरस आवाज ने उसकी सुनने की शक्ति को ही अवसन्न जैसा कर दिया था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि ये ग्वां-ग्वांऽ बाहर की है या उसके कान ही किसी आंतरिक गड़बड़ से बजने लगे हैं। आग धीरे-धीरे मंद पड़ रही थी, उसकी हिम्मत के साथ ही हारती हुई। यद्यपि अंधेरे की सघनता से मध्यरात्रि का भान होता था, पर वह जानता था कि रात की अभी शुरुआत ही है—ठंड और आतंक से भरी हुई, एक अंतहीन महारात्री की।

उसने सूखी लकड़ी तलाशी, पर वे सब जो उन्होंने दिन भर बटोरी थीं, या तो बेहद गीली थीं या फिर बिल्कुल कच्ची। उसे अपने पर खीझ उठी; इतनी वर्षा में सूखी लकड़ी की सोचना ही मूर्खता थी। पर इच्छाओं पर किसके लगाम लगी है! इतनी छोटी इच्छा पर भी कि लकड़ी सिर्फ सूखी होती, फिर चाहे दस मील से ही क्यों न लानी पड़ती। जो कुछ सूखी लकड़ी उन्होंने संभालकर रखी थी वह तीन दिन पहले ही समाप्त हो चुकी थी। उसने बुझती लकड़ियों को थोड़ा फरकाया और किसी तरह आग को बनाये रखने का प्रयत्न किया। जो एकआध छिनपट्टे उसने आग के किनारे लगाकर सुखाये थे पहले तो वे ही इस लायक नहीं थे कि ठीक ठाक जल सकें, फिर अगर थोड़ा बहुत जल भी रहे थे तो उनसे ही भला कितनी रात कोई काट सकता था। अब सूखी-गीली किसी भी तरह की कोई लकड़ी जमा करने का सवाल नहीं रह गया था। इस तरह अब और खींच पाना असंभव था, बस किसी तरह बच निकलने की सोचनी थी। 'इस तरह' वाली आदत को भी जमा देने वाली ठंड में, खुले आकाश के नीचे,

भेड़-बकरियों के साथ, अपनी नहीं, उनकी जिन्दगी बचाने। पर यहाँ आदमी और ढेबरों की जिन्दगी में अंतर ही कहाँ था। उनकी जिन्दगी इन ढेबरों की जिन्दगी पर ही तो निर्भर थी। इसलिए उसे कोई भ्रम भी नहीं था कि वे जानवरों की जान बचाने का संघर्ष कर रहे हैं।

यकायक उसने महसूस किया, आग ठंडी पड़ने लगी है। धुंआ तक नहीं रह गया था—गीली और कच्ची लकड़ियों का आँखों को चुभने वाला वह धुंआ, जो उन चंद एक लपटों की उम्मीद जिलाये रखता है जो जीने के उत्साह को बनाये रखने के लिए जरूरी होती हैं। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि करना क्या चाहिए। रोशनी के सिमटकर कुछ चिंगारियों में बदलने के साथ बाघ के सर्वोपरि आतंक ने उसे फिर घेर लिया। अगर दोनों एक-साथ आ गये तो? उसका रक्त-प्रवाह तेज हो उठा था और कनपट्टियाँ इस तरह आवाज करने लगीं मानो किसी बड़े सूखे पत्ते पर टप-टप करती बूंदें एक निश्चित अंतराल पर पड़ रही हों। उसने महसूस किया उसकी पीठ पाले-पड़े बर्फ-सी जम कर पत्थर हो गयी है, जैसे वह अब तक पंवालीधार की बर्फीली चोटी से पीठ सटाकर बैठा रहा हो। कल दिन-भर कुछ नहीं हुआ था, पर उससे पहले पीछा करता बाघ एक-एक करके सात जानवर मार चुका था। अजीब बात यह थी कि संभवतः बाघ भी लगभग उन्हीं की तरह फँस गया था। यद्यपि वे और बाघ एक दूसरे के प्रतिद्वंदी थे, पर उन दोनों का त्राण अंततः मौसम पर ही टिका था।

उसे खीझ उठने लगी, ददा पर। पर इस तरह से ददा को दोष देना भी गलत था। उस समय तो वह भी कहीं यह सोचकर प्रसन्न था कि सब साले डरपोक हैं। अब तक सारे के सारे अनुवाल सुरक्षित अपने-अपने जानवरों समेत पार जा चुके थे। सिर्फ वे ही फँसे रह गये थे और वह भी अपनी मूर्खता में। जाते समय सबने उन्हें समझाया था, पर वे नहीं माने थे। सम्भवतः अनुभव का भी अपना महत्व है और हर काम सिर्फ हिम्मत के ही बल पर नहीं किया जा सकता, यह उसकी समझ में आ रहा था। पर उनके टिके रहने के पीछे सिर्फ साहस या दिखावा ही नहीं था। तब दोनों भाइयों ने सोचा था कि मौसम एकआध दिन से ज्यादा खराब नहीं

रहेगा और जब सब लोग निकल जाएँगे वे अपनी भेड़-बकरियों को आराम से चरा सकेंगे। पर जैसे उनके ग्रह ही खराब चल रहे थे। उस दिन से आज तक आँधी और पानी ने एक मिनट दम नहीं मारा था और अब भी लग नहीं रहा था कि वह जल्दी रुकने को है। अब जान के लाले पड़ चुके थे। पर खतरा उठाने का तो यह नियम ही है या इधर या उधर, उसने स्वयं को समझाया। अगर उनका अनुमान सही निकला होता तो क्या उन्हें इसका लाभ नहीं होता और क्या उन बाकी लोगों को जो उधर सुरक्षित पहुँच चुके हैं एक-डेढ़ महीने पहले निकल आने का अफसोस नहीं होता ? फिर आखिर डेबरों को कुछ खिलाना भी तो है उधर घर जाकर भी कौन-सी समस्या सुलझ जाने वाली है, वहाँ समस्या का दूसरा रूप होता है।

अँधेरा इतना घना था मानो आप रात नहीं, किसी अंतहीन अंधी गुफा में फेंक दिये गये हों। उसने एक बार चारों ओर नजर दौड़ायी, कुछ शंका और कुछ प्रत्याशा में। कोहरा बहुत गाढ़ा हो चला था, धीरे-धीरे घी की तरह जमता। वर्षा की अंतहीन टपटपाहट और हवा से रह-रह कर भीगे जानवरों की तरह अपने शरीर को तेजी से झटपटाते घने पेड़ों के नीचे अंधकार की पर्तों को भेदती डेबरों की आँखें बीच-बीच में किसी बिल्लौरी पत्थर-सी चमक उठती थीं। उसे लगा वे सब भी जैसे आसान्न खतरे से अन-जान नहीं हैं। बल्कि कहीं एक आदिम डर इन जानवरों में भी समा गया है—अपनी जान को किसी भी तरह बचाये रखने का डर। और इस खतरे को पहचान लेने के बाद जैसे वे आँखें अपनी जान की सुरक्षा के लिए उससे प्रार्थना-सी कर रही थीं कि अब क्या होगा, कुछ करो। वह कर क्या सकता है अकेला ! बिलकुल अकेला और निहत्था। अब ये दराती भी क्या कोई हथियार है। या फिर वही इतना बड़ा पहलवान होता कि शेर-बाघ से कुश्ती कर सकता। यहाँ तक कि कल से उनका कुत्ता भी कहीं गुम था और इसी के डर के कारण वह मोती को ढूँढने भी कहीं नहीं जा सका था। फिर डर भी तो बढ़ गया था। किसे पता था कि यह बाघ ही लगा हुआ है या कोई और भयानक जानवर है। शेर या चीता भी तो हो सकता था। अब तो उसे लगने लगा था कि हो न हो मोती भी उसी का शिकार हो चुका था। इतना मोटे से 'प्यार' वाले भोटिया कुत्ते को ऐरा-गैरा

बाघ रहीं मार सकता है। वैसे भी मोती जैसा कुत्ता आस पास किसी के पास नहीं था, इसलिए उसका अंदेशा अब विश्वास में बदलता जा रहा था कि यह कोई जबरजंड जानवर है। अजीब बात थी कि वह स्वंय उसे देख नहीं पाया था जब कि पहली भेड़ उसी से दस गज के फासले से वह दोपहर में मार कर ले गया था। वैसे भी उसने बाघ को आँखों से देखा ही कब था, बस उसके बारे में सुना था।

आग के पूरी तरह बुझ जाने से पहले उसने सोचा थोड़ा तम्बाकू ही पी ले। उसने चिलम निकाली। तमकी थैली का मुँह ढीला कर बड़ी कंजूसी से इतना भर तम्बाकू निकाला जितने से धुँआ तम्बाकू का आभास देता रहे। असुरक्षा और अनिश्चितता ने उसे हर चीज के लिए शंकालु बना दिया था। कौन जाने कल क्या हो? न जाने कब तक आकाश खुले और वे लोग फँसे रहें। यही शंका उसके दिमाग में लगातार छाये हुए थी। उसने सोचा ददा को भी एक-आध सुट्टा लगवा दे जो वहीं उढ़यार में पड़ा हुआ था। उसे उठने में काफी परेशानी हुई। पाँव घटनों के नीचे जैसे जम गये थे। ठंड ने पूरे शरीर को जकड़ लिया था। ददा च्वैंट में लपटा हुआ था। उसके नथुनों से निकलने वाले खर्राटे बरसात और हवा से खड़खड़ाते पत्तों की आवाज के बीच, अपनी माँद में गुर्राते किसी हिंस्र पशु के होने का-सा आभास दे रहे थे। उसके दिमाग में फिर बाघ ने झपट्टा मारा। उसने थोड़ी तेज आवाज में कहा, "ददा! ओ ददा!" पर वह वैसे ही पड़ा रहा।

"ओ दादी हो!" उसके स्वर में घबराहट की जगह एक उत्तेजना थी जैसे कोई प्रतियोगी लंबी दौड़ में भाग लेने से पहले महसूस करता है। रात उसके आगे एक चुनौती के रूप में थी—एक अनजाने बर्फीले दर्रे-सी, जिसे उसे बिना रुके पार करना था, पर जिसके बारे में वह यह नहीं जानता था कि वह कितना लंबा है।

'ओ ददा!" इस बार उसने आवाज लगाने के साथ-ही-साथ ददा को झकझोरा भी। पर वह ऊँ! ऊँ करने के बाद फिर खुर्राने लगा, जैसे कोई अचेतावस्था में पड़ा हो। उसे लगा, ददा को उठाना ठीक नहीं है। उसने एक ओर से च्वैंट के अन्दर हाथ डालकर ददा का माथा छुआ। ददा

के शरीर की तपिश ने उसके जमते हाथ को थोड़ा आराम पहुँचाया। उसका दिल हुआ दूसरा हाथ भी ददा के माथे पर रखकर सेंक ले। उसके ठंडे हाथ से ददा थोड़ा कांपा। शायद ठण्डे हाथ ने ददा को भी आराम पहुँचाया हो। न जाने कितना जर होगा, उसके लिए अनुमान लगा पाना सम्भव नहीं था। इसे सोने ही दो, सोच कर वह लौट पड़ा।

वापस आकर पहले उसने बखुल को अपने चारों ओर कस लिया फिर च्यूंट को ठीक से नीचे बिछाया और अपनी जगह बैठ गया, जहाँ उन्होंने एक कामचलाउ छप्पर-सा बना लिया था, जिससे कि रेवड़ के साथ रह सकें। बखुल के ऊपर उसने पंखी कसी और उससे कानों को भी कस कर बांध लिया। बैठकर जैसे ही उसने दम मारा चिलम बुझ चुकी थी। उसे बड़ी खीझ उठी। उसने एक लकड़ी से राख खचोरी। एक चिंगारी नहीं थी। हाँ, राख जरूर गर्म थी। अगर दो आलू होते तो शायद अच्छे भुन जाते, उसने सोचा, पर चिलम का क्या होगा? तम्बाकू की हुड़क ने बेचैन कर रखा था। एक ही तरीका था कि वह अग्यिल निकाले और नये सिरे से आग जलाये। पर फिर वही अनिश्चितता उस पर हावी हो गयी। जरा-सी तो बुकिल रह गयी है। अगर वह भी खर्च कर दी तो आगे क्या करेंगे? उसने चिलम टटका कर वापस रख ली।

इस साले धंधे को ही छोड़ देना चाहिए, उसने सोचा! कहीं मैदान को निकल जाएगा। या तो फिर मिलट्री में ही भर्ती हो जाएगा। पर वह पढ़ा तो था ही नहीं। और कुछ भी कर लेगा। कहीं बर्तन ही मांज लेगा पर अब इस तरह ठंड और बाघ के हाथों अपनी जान नहीं गँवायेगा। नहीं हुआ तो सड़क बनाने का काम ही कर लेगा। जब वह 12-14 साल का था तब पहली बार अपने पिता के साथ इधर आया था। वे लोग गर्मी के शुरू होने के बाद अपने-अपने रेवड़ों को लेकर धीरे-धीरे चले थे। तब उनके पास सौ के करीब भेड़ें थी और इतनी ही बकरियाँ। ददा उससे पहले बापू के साथ आता था, उसी की ज़िद में वह भी आने की ज़िद पकड़ बैठा था। उस बार वे लोग उधर मर्तोली बुग्याल की तरफ गये थे। पर वह बीच में ही लौट पड़ा था। बरसात में कोई साहब लेने आ रहा था, उसके साथ। उस बार भी शायद बरसात कुछ ज्यादा ही हुई थी। या वह

पहला मौका था जब उसने इतना खराब मौसम देखा था। बुग्यालों के पास दोपहर बाद धूप दिखलायी नहीं देती थी। खाती के बाद पिंडर के साथ-साथ तभी पहली बार उसने कुछ विदेशी देखे थे, बंदर जैसे लाल। कोई बाल बढ़ाये, कोई दाड़ी। पेंट पहनने वाली औरतें भी पहले-पहल तभी देखी थीं। उसे बहुत अच्छा लगा था। वे लोग उसे देखकर मुस्कराते थे, कभी हाथ हिलाते थे। वह डर या झिझक के कारण हाथ भी नहीं उठा पाता था। पर वह सब उसे अच्छा लगा था। उनका मुस्कराना और हाथ हिलाना। जब तक वे लोग पिंडारी गल के पास पहुँचे थे, उन्हें चलते-चलते 25-30 दिन हो चुके थे। वैशाख रहा होगा। बुग्याल हरी मखमली घास से गच्छ थे। बर्फ गले काफी समय हो चुका था। इस इस पर कई निर्घाम जगहों में उसने बर्फ देखी थी। उसे बड़ा मजा आया था, उस कमजोर बर्फ पर अपने पैरों से निशान बनाने में। उसके किरमिच के जूतों ने, जो बाबू ने चलने से पहले दस मील दूर भराड़ी से जाकर खरीदे थे, उस छापामार बर्फ पर लहरें बनायी थी। उसने सोचा था, जब अगली बार आयेगा, तब उन निशानों को फिर देखेगा।

दस साल का अंतराल वह इस तरह फांद गया, जैसे बंदर देखते-देखते एक डाल से दूसरी डाल पर पहुँच जाते हैं। उसने एक बार फिर से किसी तरह आग जलायी। अभी से रात, ठंड और बाघ के गुर्राते आतंक में जीने से बेहतर अटक-बटक के लिए बचाये रखे आखिरी सूखे छिलपट्टे को भी, जो होगा देखा जाएगा, वाले अन्दाज में आग में लगा दिया। ये छिलपट्टे पुराने किसी ठूंठ से रास्ते में ददा ने निकाले थे। ददा की दूरदर्शिता का वह कायल था। ददा सदा उन बातों के लिए तैयार रहता था जिनका अनुमान भी कर पाना उसके लिए असंभव था। यद्यपि उसमें और ददा में दो-एक साल का ही अंतर था पर अनुभवों ने वास्तव में ददा को बड़ा बना दिया था। पिता की असामयिक मृत्यु के बाद से सारी जिम्मेदारी ददा के ही कंधों पर आ गयी थी और जिस खूबी से वह उन्हें निभा रहा था उसने ददा को वास्तव में बड़ा साबित कर दिया था। सूखे ठूंठ के साथ उसने इस आशा में कि आग कुछ देर और चल जाएगी, कुछ कच्ची और गीली लकड़ियाँ भी लगा दी थीं। इससे धुंआ कुछ ज्यादा ही हो रहा था, फिर ठंड से धुंआ

ऊपर को भी नहीं उठ पा रहा था और वह धुंए के तंबू में घिरा अपनी आंखें पोंछता जा रहा था। आग के भड़कने से लकड़ियों के चटकने की आवाज आने लगी थी, जैसे लकड़ियों में और उसमें गप्प चल रही हो-दाज्यू के बारे में ही। वर्षा की झड़ी की पृष्ठभूमि में जलती लकड़ियों से चलता वार्तालाप एक सुखद अनुभव था। ददा ने ज्वर होने पर भी दोपहर में यह ठूंठ उसके कितना ही मना करने के बावजूद तोड़ा था। वह उस समय इसका महत्व नहीं समझ पाया था—वाकई इस ददा का जवाब नहीं है।

अब तक की ज्वालाओं से उठने वाली चमक और गर्मी ने, कुछ देर को ही सही, उसका ध्यान आसपास मंडराते आसन्न संकटों से हटा दिया। यही महीना था, कौन जाने क्या हुआ होगा। पहले उसका अनुमान था कि वह शायद तब तक घर पहुंच जाएगा, क्योंकि किसी न किसी को तो राशन लेने जाना ही था। उसने सोचा था वही निकल जाएगा इस बहाने। पर मौसम ने सारा कबाड़ा कर दिया था और राशन लेने जाने की नौबत ही नहीं आयी थी। क्या पता क्या हुआ होगा—बेटा या बेटी, कौन जाने ? गोपुली का चेहरा उसकी आंखों के आगे नाच उठा—आगे को तना पेट और पिछौड़े के पीछे छिपा चेहरा, उसकी आंखों में एक शरारती मुस्कराहट लगातार डोलती रहती थी। यह उसने कल्पना की थी क्योंकि आखिरी बार जब उसने गोपुली को देखा था तब सिर्फ हल्के से चिह्न थे। उसे ऐसा लग रहा था, मानो गोपुली को देखे एक युग बीत गया हो। किसी तरह वर्षा रुके और ये पार लगें। खानी पार करते ही वह सारे ढबरे ददा के सुपुर्द करके चल देगा।

"और नहीं तो क्या होंगे" ? वह हँसा था मंद हँसी, कहीं कोई सुन न ले। "देख नहीं रही है, आ कहाँ से रहा हूँ। बस, समझ ले वर्फ ही पड़ रही थी।"

"हाई अच्छा !" गोपुली ने चिंतातुर स्वर में कहा और उसके हाथ को अपने सीने से लगा लिया था। और देखते ही देखते उसका हाथ ही नहीं पूरा शरीर गरमा गया था। जैसे अभी भाई का हाथ छूने भर से उसका हाथ तप गया था। फिर धीरे-धीरे उसका हाथ स्वयं ही नीचे की ओर सरकने लगा और पेट पर आकर थम गया।

' क्या है ?" गोपुली ने पूछा।

"तुम्हारा पेट ?" उसे आश्चर्य हुआ।

वह इस बार खिलखिलायी थी, "यहाँ है मेरा पेट, मेरी बगल में सोया। देखोगे ? अब कल सुबह देखना। अच्छा लाओ अपना हाथ लाओ, देखो ! तुम्हारे हाथ ठंडे तो नहीं हैं ?"

"नहीं तो," उसने पूरे विश्वास के साथ कहा। ये औरतें बच्चों के मामले में कितनी सावधान हो जाती हैं, उसे आश्चर्य हुआ। इस पर भी गोपुली को यकीन नहीं हुआ। उसने उसके हाथ को अपने दोनों हाथों से देर तक सेंका और फिर अपनी दायीं ओर ले गयी पर उसका हाथ लगने से पहले ही बच्चा रोने लगा था—हल्की-सी आवाज में। गोपुली ने उसका हाथ इतनी जोर से झटका कि वह हड़बड़ाकर उठ बैठा।

बच्चे के रोने से नहीं, बल्कि बकरियों की घबरायी-घबरायी मिमियाहट और बेचैनी ने उसे नींद के झोंके से उठा दिया था। अंधकार जमकर अभेद्य हो चुका था। उसने इधर-उधर हाथ से झपझपाकर देखा। आग न जाने कब की बुझ चुकी थी। वर्षा अभी भी उसी रफ्तार से हो रही थी। वर्षा की आवाज के साथ मिलकर नीचे नदी का स्वर और भी कई गुना भयावह और एकरस हो चुका था, एकांत और असहायता की पीड़ा को और भी सघन व तीव्र बनाता। हवा भी इस बीच-गुर्राने लगी थी जैसे कोई खूंखार जानवर आक्रमण से पहले क्रोध में अपना पंजा जमीन पर रगड़ता है। बकरियों और भेड़ों की मिमियाहट और बेचैनी बढ़ती जा रही थी। बादलों की रह-रहकर-बढ़ती गड़गड़ाहट इस तेजी से आकाश के

इस कोने से उस कोने तक फैलती, मानो हजारों कारतूसों से एक-एक पहाड़ को कई-कई जगह एक साथ उड़ाया जा रहा हो। पर जानवर बादलों की गर्जन-तर्जन से तो नहीं ही घबड़ाये हुए थे। सो फिर बात क्या थी? और उसकी समझ में आ गया। यह वही डर था, जिसकी चिंता में स्वयं वह न जाने कब से ग्रस्त था। बाघ के याद आते ही उसने अपनी दराती हाथ में ले ली। पर दराती से इस अंधेरे में क्या होने वाला था। बाघ पीछे कहीं से भी झपट्टा मारेगा और एक न एक जानवर उठा ले जायेगा। सुबह ददा कहेगा इस तरह तो हम बरबाद हो जायेंगे। और यह उसके लिए मरना हो जाएगा। ददा सोचेगा वह सो गया होगा। पर वह सोया तो है ही और न जाने कितनी देर सोया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि उसे क्या करना चाहिए। तत्काल उसका ध्यान एक बार फिर आग की ओर गया। फिर से उसने आग टटोली। आग तो छोड़ वहाँ गर्म राख भी नहीं महसूस हुई। बाघ को दूर रखने का सबसे बड़ा उपाय था आग, मगर अब आग जला पाना असंभव था। उसने निर्णय ले लिया। होगा साला बाघ आखिर कर क्या लेगा! देखा जाएगा! उसे अपनी भुजाओं की मांसपेशियां अचानक कसती महसूस हुईं। उसने फिर से दराती की पकड़ को मजबूत किया और खड़ा हो गया। यद्यपि एक बार उसका दिल हुआ ददा को उठा दे फिर ददा ने कहा भी तो था अगर कुछ हुआ तो मुझे उठा लेना पर उसे बीमार भाई को उठाना अनैतिक लगा। वह थोड़ा बढ़ा और उसने हुदकर की आवाज लगायी जिससे यदि बाघ हो तो आदमी की आवाज सुनकर आगे न आये। धीरे-धीरे उसने ढेवरों का एक पूरा चक्कर लगा कर उन्हें आश्वस्त कर दिया कि नहीं, अभी तुम्हारी मदद को कोई है। पर बादलों की जानवरों की बेचैनी वाकई कम हो गयी और फिर से बूंदों की रुनझुना और हवा की सुर्राहट बढ़ गयी।

उसने इस डर से बहुत ही थोड़ा खाया था कि कहीं ऐसा न हो कि वर्षा के कारण वे खाना बना ही न सकें। उसने कंडी में दबाकर रखी रोटियों की पोटली निकाली और धीरे-धीरे खाने लगा। फाँफर की रोटी तक ठण्ड से पत्थर जैसी हो गयी थी। भूख में उसकी यह भी इच्छा नहीं हुई कि गुड़ की डली ही होती, सब्जी की तो बात रही दूर। यहाँ तक कि उसे नमक तक याद नहीं आया, कहीं-न-कहीं जरूर मिल जाता। रोटी खा लेने के बाद उसे तम्बाकू की हुड़क लगी, अब उसमें इतना विश्वास आ चुका था कि वह अटक-बटक के लिए रखी बुकिल के इस्तेमाल की सोचने लगा। एक धूप निकली नहीं कि बुकिल की कोई समस्या नहीं रहेगी, वह जानता था। उसने अग्यिल पट्टी निकाली और बुकिल के कुछ रेशों को लोहे के टुकड़े के साथ जोड़कर डांसी पत्थर से रगड़ने लगा। अंधेर-कूप में पत्थर और लोहे की रगड़ से निकल कर चिंगारियाँ इस तरह से फैलने लगीं मानो प्रकाश के गोले छूट रहे हों। बुकिल संभवतः कुछ गीला होने के कारण आग नहीं पकड़ रहा था। पर जब बुकिल ने आग पकड़ी तो पल भर को ऐसा लगा कि एक हजार सूर्य एक साथ प्रकट हो गये हों। उसकी आँखें मिच-मिचा गयीं। सारा जंगल, सारी घाटियाँ और सारे ऊँचे-ऊँचे पहाड़ प्रकाश में नाच उठे। सारे जानवर भी नींद से जैसे चौंककर जग उठे। उन के जगते ही उस प्रकाश में उसने देखा कि प्राणों की उष्मा से तपकर उठी भाप धीरे-धीरे पेड़ों के बीच से होती हुई ऊपर बादलों ओर जा रही है। उसने उत्साह में तेजी से कई दम मारे और अंत में उसकी चिलम लम्बी लौ से छज उठी। वह उसे तब तक देखता रहा जब तक कि लौ वापस चिलम में न समा गयी। उसका मन हुआ इस आग की कली को सहेज कर अपने बखुल के अंदर, अपने हृदय के पास रख ले या कम-से-कम अपनी हथेलियों में छुपा ले, जिससे कुछ देर को ही सही, कुछ गर्मी उसके शरीर को मिल सके। वह आग के साथ देर तक अपनी इच्छाओं का खेल खेलता रहा। जब चिलम बुझ गयी वह फिर से गोठ में जा पहुँचा, गोपुली के पास।

इस बार वह कैसे उठा उसे याद नहीं। संभवतः भगदड़ में किसी जानव

का पैर उस पर पड़ा था। नींद खुलते ही उनके नथुने अजीब तीखी और असह्य दुर्गन्ध से भर उठे। उसे समझते देर नहीं लगी कि बाघ बिल्कुल नजदीक है। समय नहीं था। उसने दराती सँभाली और उस ओर झपटा जिधर उसे सबसे अधिक घबराहट और हलचल महसूस हुई। तभी अँधेरे में एक जोड़ी आँखें जो ढेवरों की आँखों से बिल्कुल अलग थीं, पल भर को किसी पैशाचिक माया की तरह चमकीं। और उसी पल के लिए वह ठिठका, पर इसी के साथ उसके कानों में शिकार होते बकरे की मिमियाहट मौत से जूझते किसी आदमी के बदहवास आर्तनाद की तरह पड़ी। जैसे करंट छू गया हो। वह अपनी स्तब्धता से उभरा। ठंड से जकड़ा शरीर पल भर में इस फुर्ती से झपटा कि बाघ भी उसकी छलांग का अनुमान नहीं कर पाया। बाघ अब तक बकरे को पाँच-सात गज घसीट कर ले जा चुका था। इससे उसका वार ही खाली नहीं गया, उसका पैर भी सही नहीं पड़ा और इस हड़बड़ में हाथ से दराती भी छिटक कर अंधकार में कहीं जा पड़ी। इस उथल-पुथल से घबरा कर बाघ ने अपना शिकार छोड़ दिया और अनचाहे ही अपने सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी आदमी के रूबरू हो गया। बाघ की गुर्राहट और उसके नथुनों से उठती दुर्गन्ध इतनी तीव्र थी कि उसके लिए बाघ को और अधिक निकट रहने देना असम्भव हो गया। उसके दिमाग में क्रोध लोहार के आँफर की तरह जलने लगा था। वह फिर उछला और इस बार उसका हाथ बाघ के गले में था।

साथ वह भी ऐसे घूम गया जैसे गोफन को पत्थर फैंकने से पहले घुमाया जाता है। पीड़ा से बौखलाया बाघ पूरी शक्ति से दहाड़ा भी, जैसे कई बादल एक साथ टकरा गये हों। पूरी घाटी ही उस दहाड़ से नहीं गूंजती रही, बल्कि हर पेड़-पत्ती उससे थर-थरा उठी। इसके बाद क्या हुआ, उसे नहीं मालूम। सम्भवत: कुछ देर को वह बेहोश हो गया था। वह यह नहीं समझ पाया कि उसकी मूर्च्छा बाघ की दहाड़ के कारण रही अथवा बाघ ने अपनी पूंछ को छुड़ाने के प्रयत्न में उसे किसी पेड़ के तने से दे मारा था।

जब वह होश में आया दाज्यू उसे घबराहट में पुकार रहा था। "हूँ," उसने इस तरह से कहा था, जैसे कच्ची नींद से उठा दिया गया हो।

"कहाँ है तू ?" ददा ने पूछा था। उसकी आवाज रोआसी हो गयी थी।

"मैं यहाँ हूँ। बिल्कुल ठीक हूँ।" उसने ददा को ढाढ़स बंधाया। "बकरियाँ तो ठीक हैं ?" उसने फिर पूछा। उसका सर अब भी भन्ना रहा था।

"मरने दे बकरियों को, तू ठीक है ?" बुखार से काँपती ददा की आवाज से उसे लगा कि वह अभी रो उठेगा।

ददा ने पास पहुँचते ही उसकी दोनों बाजुओं को कसकर पकड़ लिया। और देर तक चुप रहा। ददा का शरीर तप रहा था।

"तुझे अभी काफी जर है," उसने अपनी घबराहट को नियंत्रित करते हुए कहा।

ददा ने तत्काल उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। सम्भवत: उसका गला फिर से रुँध गया था। न जाने कितनी देर वे दोनों इसी तरह खड़े रहे। अंत में उसने काँपते—शायद ज्वर से या शायद ठण्ड से अथवा शायद विह्वलता से—बड़े भाई को जाकर उसकी जगह पर बैठा दिया।

"तुझे डर नहीं लगा ?" ददा ने पूछा।

उसकी समझ में नहीं आया क्या जवाब दे। यद्यपि उसकी भन्नाहट कुछ कम हो चुकी थी, पर घबराहट से वह अब भी काँप रहा था।

"तूने मुझे क्यों नहीं उठाया ?" ददा ने फिर प्रश्न किया।

"मुझे पता कहाँ लगा ?" उसने थोड़ा झिझकते हुए कहा। वह

जानता था कि ददा से ज्यादा साहसी वह नहीं है। ददा के सामने ऐसी कोई भी बात, जो किसी भी तरह की वीरता का आभास देती हो, करना उसके लिए असुविधाजनक हो रहा था।

वे दोनों फिर से खामोश हो गये। वर्षा अब लगभग थम चुकी थी।

"वर्षा थम गयी है, हो सकता है यहां भी बर्फ पड़ जाए, पर वर्षा शायद नहीं हो।" उसने कुछ उत्साह में कहा।

"ईश्वर ने चाहा तो कल नदी उतर जायेगी", ददा ने लम्बी सांस लेकर कहा।

"तू सो जा," उसने ददा को लेटाना चाहा। वह जानता था, ददा इस तरह हिम्मत हारने वाला आदमी नहीं है, ज्वर ने उसे हिला दिया था। "तू सो जा," उसने फिर कहा, "उतर जायेगी नदी, कल तो उतर ही जायेगी।"

ददा अब भी चुप रहा। जैसे उसकी बात का कोई मतलब ही न हो। तब उसने महसूस किया कि वह बकरी जिसे बाघ नीचे तक घसीट कर ले गया था होश में आकर मिमिया रही है। यानि बाघ बकरी नहीं ले जा सका था। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा।

उसकी समझ में नहीं आया कि क्या किया जाए? हो सकता है बाघ कहीं-कहीं घात लगाये बैठा हो। तब? वैसे भी वह गुस्से में तो होगा ही पर तब क्या वह बकरी को, जिसके लिए उसने अपनी जान लड़ा दी, अब बाघ के हाथ में जाने दे? वह काफी देर इसी द्वन्द्व में रहा और अंततः वह स्वयं को रोक नहीं सका। वह झटके से उठा और उसने ददा की दराती मांगी।

भी क्षण उस पर झपटने के लिए तैयार बैठे हैं पर उसके उत्साह में कमी नहीं थी। उसने बाघ को हरा दिया था। अपनी विजय ने उसमें वह तेजी भर दी थी, जिसके चलते घात में बैठे बाघों को वह मात दे सकता था। न जाने कब और किस फुर्ती से उसने बकरी उठायी और वापस अपनी जगह आ गया। बकरी की शायद गर्दन टूट चुकी थी, जिससे उसकी गर्दन ही नहीं लटक गयी थी, वह खड़ी भी नहीं हो पा रही थी। कुछ भी हो, बकरी वापस उनके ही पास थी! यह उनकी जीत थी—जीत!

ददा पहले तो उसे गाली बकने लगा, साले मरने की ठाने हुए है तो मर जा, आदि-आदि और फिर रोने लगा। अपने उत्साह में उसकी समझ में नहीं आया इतने बड़े ददा को हो क्या गया है? वह हतप्रभ ददा को देखता रहा। किसी तरह ददा चुप हुआ और लेट गया था, संभवतः बेहोश हो गया था—बुखार में फिर से।

जब ठंड बहुत बढ़ जाती है तो उसे याद आया कि वर्षा नहीं होती। फिर सिर्फ बर्फ पड़ती है। और उसे लगा था ठंड के मारे सारी बर्फ बिना पड़े वातावरण में जैसी की तैसी ठहर गयी है। इससे हवा ठोस हो गयी थी। बर्फ सी ठोस। उत्तेजना और घबराहट उसमें अब भी थी। उसने फिर से किसी तरह अग्यिल पट्टी निकाली और नये सिरे से बुकिल जलाकर चिलम भरी और हौले-हौले कश भरने लगा। रात अभी कितनी और बाकी है, वह अनुमान नहीं लगा पा रहा था। यदि आकाश साफ होता तो यह परेशानी न होती। तारों से अनुमान लगाया जा सकता था, पर रात भर में जितना कुछ घट चुका था, उससे वह यह अंदाज करने लगा कि अब सुबह में देर नहीं हो सकती।

बाप रे! उसने क्या कर दिया था, अब उसकी समझ में आने लगा था। उसके दिमाग में बाघ का आतंक फिर से फैलने लगा। बाघ कभी आ सकता था इसलिए जरा-सी भी आहट के होते ही वह दराती की मूठ को कस कर पकड़ लेता था। फिर यह भी तो निश्चित नहीं था कि बाघ एक है या दो। कभी पेड़ों से कोई पत्ती या पानी की बूंद खड़खड़ा कर गिरती तो लगता बाघ ने झपट्टा मार दिया है।

उसकी इच्छा रह-रहकर होती कि काश वह थोड़ी आग जला पाता। यद्यपि पिछले कई दिनों से वर्षा हो रही थी और ऐसी स्थिति में जंगल से एकआध सूखी लकड़ी के टुकड़े भी बटोर पाना जरा मुश्किल काम था, पर अगर उजाला होता या रात होने के बावजूद आकाश साफ भर होता तो वह निश्चित रूप से कुछ जुगाड़ कर लेता। पर इस अंधकार में, उसने सोचा, कुछ भी कर पाना संभव नहीं है। असल में वह अब तक घबराहट की जगह ठंड से लगभग काँपने लगा था। हो सकता था कि ठंड बढ़ गयी हो पर इसके साथ यह भी कोई असम्भव नहीं था कि उसकी कँपकपाहट का कारण बाघ रहा हो, जो उसके दिमाग से हटाये नहीं हट रहा था। अब क्या हो सकता है। जो होगा देखा जाएगा, उसने सोचा। हाँ, पर अगर आग होगी तो वह अपने को ठंड और बाघ दोनों से बचा सकता था। बाघ को मारो गोली, उसने स्वयं से कहा, क्या यह ठंड सुबह तक उसे जिन्दा छोड़ेगी ? बाघ मारा तो एक ही झपाटे में काम कर देगा, पर ठंड तो धीरे-धीरे जमाकर बेरहमी से मारेगी। उसने निर्णय किया कि वह उठकर एक आध लकड़ी ढूंढेगा और थोड़ी आग जला लेगा। चाहे जैसे भी होगा। यही तो होगा ना कि उसे सारी बुकिल जलानी पड़ेगी, जला, देगा। यह ठंड छोड़ने वाली नहीं, वह यह नहीं मानना चाहता था कि बाघ नहीं छोड़ेगा, उसे उठना चाहिए, उसने सोचा और उठकर कुछ सूखे निगाले ही जमा कर लेने चाहिए। फिर निगाले दूर भी नहीं थे। वहीं कुछ कदम नीचे निगालों की झाड़ियाँ थीं और सूखे निगालों को भीगा होने के बावजूद जलाना ज्यादा कठिन नहीं होता है। एक बार आग जल जाने के बाद तो और लकड़ियाँ भी वह आसानी से जुटा लेगा और फिर निगालों के साथ और भी लकड़ियाँ जलायी जा सकती हैं। सारी रात चैन से कट जाएगी। फिर रात बची भी कितनी है, शायद आखिरी पहर चल रहा होगा। अगर आकाश घटाटोप नहीं होता, तो अब तक थोड़ा बहुत उजाला भी हो गया होगा।

कहा। अचानक सब कुछ जैसे जम गया-उसकी सांस तक। उसके कान उस आवाज को फिर से टोहने लगे। वह स्वयं को तैयार करने लगा, पर उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि उसे करना क्या चाहिए? इस बार उसके अन्दर उस तरह का साहस नहीं रहा था। बाघ की ताकत को वह जान चुका था और यह भी जान गया था कि जिस चमत्कार के कारण पहले बच गया था वह बार-बार नहीं होने वाला है। अब उसमें एक विजयी का दंभ या आत्मविश्वास नहीं, बल्कि प्रतिद्वन्दी की शक्ति का अंदाज होने के कारण घबराहट भर गयी थी। यह उसने कैसे कर दिया। वह स्वयं चकित था। संभवतः अब वीरता और मूर्खता का अन्तर उसकी समझ में आ रहा था। कितनी पतली रेखा है दोनों के बीच।

देर तक कोई आवाज नहीं हुई। यहां तक कि उसके जानवर भी निश्चिन्त पड़े रहे, बिना किसी प्रत्यक्ष हलचल के। नीचे नदी का ग्वां-ग्वां करता पानी और जगह-जगह असमय फूटे पतनालों और सोतों की धाराओं की आवाज थी। काफी देर बाद बस एक पक्षी इस एकरसता को तोड़ता हुआ एक पेड़ से दूसरे पेड़ की डाल तक उड़ा। कोई उल्लू रहा होगा, भोजन की तलाश में। उसने फिर सोचा, अगर आग हो सके तो वह बाघ को दूर रख सकता है। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं था। रात, अचानक उसने महसूस किया, चाहे कितनी भी कम क्यों न रह गयी हो, बाघ के लिए काफी थी।

मुझे कुछ करना चाहिए, उसने सोचा। पर अब तक उसे सांस लेने में भी कठिनाई होने लगी थी। हवा भी, उसे लग रहा था, जम गयी है और उसकी श्वांस-नली में जमी हुई हवा बारीक स्फटिक रेशों में ठहरती जा रही है—बर्फ के फाहों-सी। इससे उसका खून जमने लगा था और अब उसके लिए उठ पाना भी संभव नहीं रहा था, जैसे उसके पैर कई-कई फिट गहरी बर्फ में जम गये हों। ठंड के बढ़ने के साथ आग उसकी कामना में चुकती ढिबरी की तरह जलने लगी। उसने अपने घुटनों को मोड़कर उनमें सिर टिका लिया और धीरे-धीरे जमते रक्त से छन-छनकर ठंड बारीक-बारीक कणों में उसकी आत्मा में रिसने लगी थी।

वैसे जब ठंड आत्मा में प्रवेश कर जाए…।

(1985)

आवेदन करो

उस रात सौ साल का रिकार्ड टूट गया। आक्रमणकारी सेना से खूंखार बादलों ने कई घंटे पहले शहर घेर लिया था। शाम उस दिन हुई नहीं। हल्के बादलों वाली शामें कितनी खूबसूरत होती हैं। डूबते सूरज की किरणों से बादलों की ओट हुआ पश्चिमी क्षितिज 'ट्रांसपेरेंसी' में बन्द तस्वीर सा सम्मोहक हो उठता है—पेड़ों और बनी-अधबनी बहुमंजिली इमारतों के पीछे। पर इस शहर में यह सब देखने-सुनने का वक्त है किनके पास! इसलिए सीधे रात के उतर आने से किसी को अफसोस नहीं हुआ, आश्चर्य भले ही रहा हो। इस शहर में कुछ भी हो सकता है इसलिए हम सभी अपने आश्चर्य अपने पास रखते हैं। एक बने-बनाये जवाब से बचने के लिए कि ऐसा आजकल क्या नहीं होता था इसका कारण यह है कि···। पर अगर आप आश्चर्य का कारण जान लें तो फिर उसका मजा जाता रहता है, इसलिए हम अपने अन्दर अपने आश्चर्य दबाये रहते हैं, कुछ पल के उस ऐन्द्रिक शुद्ध आनन्द के लिए जो अन्यथा दुर्लभ है, शुद्ध शराब की तरह।

आंधी का वेग सड़क पर यूकिलिप्टस के पेड़ को ऐसे हिला रहा था जैसे शादियों में लोग शराब पीकर भंगड़ा करते हैं। खिड़की के रास्ते घुसकर हवा दूसरे कमरे में स्टोव से गली के शोहदों की तरह छेड़खानी कर रही थी। सब्जी शायद बन चुकी थी। रोटी डालते ही पत्नी उसे बुलायेगी। यद्यपि वह पत्नी की बुलाहट का इन्तजार करता है, पर वह खाट पर लेटा-लेटा ही जान जाता है कि कब पहली रोटी सिकी हैं। गंध से नहीं, रोटी के फूलने से कमरे के वायुमंडल में जो दबाव पड़ता है उससे। वह गंधों से परे हो चुका है। वर्षों से सिर्फ अजीब दुर्गंध उसके नथूनों में भरी रहती है—कागजों के सड़ने की-सी जो उसके हाथों से आती रहती है। तंगदस्ती में अचानक एक रोटी का भी फूल जाना उसकी सांस पर दबाव डालता है। और वह जान जाता है रोटी सिक गयी है। पर यह दबाव बस पहली रोटी तक ही इतना तीव्र रहता है, उसके बाद सब सामान्य होता जाता है। और बार-बार की फूलती रोटियों के साथ सांस तालमेल बैठा लेती है।

धूल धीरे-धीरे पत्नी के सप्रयत्न सजाये कमरे को रौंद रही थी। कल सुबह जब पत्नी को कमरा साफ करना पड़ेगा तब वह उसे कोसेगी—कवि जी का क्या जाता है। वह तो हवा-पानी, धूल-धक्कड़ निहारेंगे और घर को मिट्टी से भर कर चलते बनेंगे।

'कवि' शब्द गाली की तरह है। वह कहीं से भी कवि नहीं है। उसने कभी कोई कविता नहीं लिखी। स्कूल-कालेज के दिनों में मजबूरी में पढ़ी कविताओं के अलावा उसने कभी कुछ पढ़ा हो, उसे याद नहीं पड़ता। फिर भी वह प्रतिवाद नहीं कर पाता।

बाहर आंधी का वेग बढ़ता जा रहा है और अचानक एक झोंका कार्निस पर वजह-बेवजह रखे कागजों को उड़ा देता है। अपने घोर आलस्य के बावजूद एक उड़ते कागज पर वह इस तेजी से झपटा, जैसे तितली पकड़ने बच्चा और उसे यूंही पढ़ने लगा। मुन्ना की चिट्ठी थी। पहले वाक्य ने ही उसकी तबियत झक कर दी। उसने कई दफा कहा है इन चिट्ठियों को संभाल कर न रखा करो। आते ही फौरन फाड़कर फेंक दिया करो जैसा वह करता है, पर फिर भी जहां देखो यही चिट्ठियां। डाक में

और कुछ आता भी नहीं है, सिवा मुन्ना की चिट्ठियों के। वह हर चिट्ठी को आते ही बिना पढ़े फाड़कर फेंक देना चाहता है, पर किसी डरावनी फिल्म-सी ये चिट्ठियाँ अपने आतंक के बावजूद खींचती हैं।

'भाई साहब अपना शहर भी बदल रहा है', मुन्ना ने लिखा था। 'जहाँ सड़कें थी सब नालियाँ निकल आयी हैं। नालियाँ सड़कें हो गयी हैं। हमने नीचे की मंजिल ही छोड़ दी है। कोई रास्ता था भी नहीं। घर का गंदा पानी तक सब बाहर नहीं जाता अलबत्ता हम यदाकदा खिड़कियों के रास्ते आते-जाते रहते हैं। पर इधर घर लगातार एक सड़ांध से भरा रहता है। हम लोग निर्णय नहीं कर पा रहे हैं कि यह गंध आखिर है किसकी! अम्मा का कहना है बनोलिया का पानी इतनी दुर्गंध नहीं मारता। बाबूजी भी इससे सहमत हैं। पर मेरा मानना है कि यह गंध उसी पानी की है जो पिछले कई वर्षों से नीचे की मंजिल में जमा हो रहा है। अम्मा इस पर अपने नाक की पट्टी खोलकर गुस्से से कहती है—'तुम सब बेवकूफ हो, ये सड़न तुम्हारे सर्टिफिकेटों की है।'

'क्या भाई साहब यह कारण हो सकता है? यहाँ मैंने कई बार अपने सारे सर्टिफिकेटों और डिग्रियों को सूँघकर देखा है। ये गल तो रहे हैं पर वस्तुतः शायद...'

मैंने इस पर उर्मिला से पूछा कि 'जीजी तेरा क्या कहना है?' वह पहले तो कई दिन चुप रही पर एक दिन जब मेरा अम्मा-बाबूजी से दुर्गंध को लेकर जबर्दस्त झगड़ा हो गया तो मुझसे रहा नहीं गया। क्या कोई आदमी बिना कारण निरपेक्ष रह सकता है? 'तटस्थ रहने की अनैतिकता असहनीय है' मैंने स्पष्ट कर दिया, तब कहीं वह बोली—'अनैतिकता का प्रश्न ही नहीं है, असल में मुझे कुछ मालूम ही नहीं होता।'

हैं। पर नहीं, वह शायद झूठ नहीं बोल रही थी। उस दिन मैंने सुबह-सुबह उसे सूरज के ताजे प्रकाश में देखा तो मैं दंग रह गया। मैंने देखा, उर्मिला जीजी का चेहरा सपाट और ठोस होता जा रहा है। वहाँ कोई भाव नहीं था—किसी भी तरह का। तुम्हें ये क्या हो गया है, जब मैंने पूछा तो बोली, 'पता नहीं देखो तो ! मुझे तो आजकल अपने चेहरे पर कुछ भी महसूस नहीं होता।' मैंने जब अँगुली से उसका चेहरा छुआ तो वह प्लास्टर आफ पेरिस-सा सख्त था, भोर की नमी से ठंडाया। उसके चेहरे पर मेरी अँगुली का निशान इस तरह उभर आया, जैसे पूस की सुबह खिड़की के काँच को छू दिया हो। 'क्या भाई साहब, यह संभव है कि कोई प्राणी देखते-देखते सफेद मिट्टी हो जाए ?'

'बाबूजी का कहना है पुश्तैनी मकान की लखौरी ईंटों से उड़ी धूल उसके कोमल चेहरे पर बैठकर जम गयी है और आजकल बाबूजी एहतियातन जहाँ-जहाँ ईंटें भुर्र-भुर्रा आयी हैं, कागज से भर रहे हैं।'

अंत में उसने लिखा था 'भाई साहब, अब यह दुर्गंध मुझसे सही नहीं जाती। मैं वहाँ आना चाहता हूँ। हाँ, जीजी की चिन्ता न करना, अभी वह सिर्फ गले तक ही जमी है। अम्मा कल किसी तरह रस्सियों से उतर कर कहीं से ताबीज लायी हैं। ठीक हो ही जाएगी। फिर बाबूजी आगे के लिए एहतियात तो बरत ही रहे हैं।'

"आपका मुन्ना" के बाद उसने फिर लिखा था, 'पुनश्च: 'अगर हो सके, तब तक मेरे लिए 'खूब खेलो' का एक क्रिकेट विशेषांक और कपिलदेव का एक 'ब्लो-अप' भेज देना।'

"सुनते हो !" पत्नी ने कहा, "कोई दरवाजा खटखटा रहा है एक घंटे से।" कमाल हैं, वह सोचने लगा, इस पत्नी के कान भी। स्टोव की भाएँ-भाएँ के बावजूद सुन लिया कि कोई खटखटा रहा है, और एक वह है। वह अपने को धिक्कारता धीरे-धीरे उठ गली की ओर खुलने वाले दरवाजे की ओर बढ़ा।

"कौन ?" दरवाजा खोलने से पहले उसने पूछ लेना उचित स:

"मैं !" बाहर से थकी-सी आवाज ने कहा।

क्या मुन्ना हो सकता है—एक बारगी उसके दिमाग में कौंधा।

और कुछ आता भी नहीं है, सिवा मुन्ना की चिट्ठियों के। वह हर चिट्ठी को आते ही बिना पढ़े फाड़कर फेंक देना चाहता है, पर किसी डरावनी फिल्म-सी ये चिट्ठियाँ अपने आतंक के बावजूद खींचती हैं।

'भाई साहब अपना शहर भी बदल रहा है', मुन्ना ने लिखा था। 'जहाँ सड़कें थीं अब नालियाँ निकल आयी हैं। नालियाँ सड़कें हो गयी हैं। हमने नीचे की मंजिल ही छोड़ दी है। कोई रास्ता था भी नहीं। घर का गंदा पानी तक अब बाहर नहीं जाता अलबत्ता हम यदाकदा खिड़कियों के रास्ते आते-जाते रहते हैं। पर इधर घर लगातार एक सड़ांध से भरा रहता है। हम लोग निर्णय नहीं कर पा रहे हैं कि यह गंध आखिर है किसकी! अम्मा का कहना है बनौलिया का पानी इतनी दुर्गंध नहीं मारता। बाबूजी भी इससे सहमत हैं। पर मेरा मानना है कि यह गंध उसी पानी की है जो पिछले कई वर्षों से नीचे की मंजिल में जमा हो रहा है। अम्मा इस पर अपने नाक की पट्टी खोलकर गुस्से से कहती है—'तुम सब बेवकूफ हो, ये सड़न तुम्हारे सर्टिफिकटों की है।'

'क्या भाई साहब यह कारण हो सकता है? यहाँ मैंने कई बार अपने सारे सर्टिफिकटों और डिग्रियों को सूंघकर देखा है। वे गल तो रहे हैं पर बदबू शायद…'

मैंने इस पर उर्मिला से पूछा कि 'जीजी तेरा क्या कहना है?' वह पहले तो कई दिन चुप रही पर एक दिन जब मेरा अम्मा-बाबूजी से दुर्गंध को लेकर जबर्दस्त झगड़ा हो गया तो मुझसे रहा नहीं गया। क्या कोई आदमी बिना कारण निरपेक्ष रह सकता है? 'तटस्थ रहने की अनैतिकता असहनीय है' मैंने स्पष्ट कर दिया, तब कहीं वह बोली—'अनैतिकता का प्रश्न ही नहीं है, असल में मुझे कुछ महसूस ही नहीं होता।'

हैं। पर नहीं, वह शायद झूठ नहीं बोल रही थी। उस दिन मैंने सुबह-सुबह उसे सूरज के ताजे प्रकाश में देखा तो मैं दंग रह गया। मैंने देखा, उर्मिला जीजी का चेहरा सपाट और ठोस होता जा रहा है। वहाँ कोई भाव नहीं था—किसी भी तरह का। तुम्हें ये क्या हो गया है, जब मैंने पूछा तो बोली, 'पता नहीं देखो तो ! मुझे तो आजकल अपने चेहरे पर कुछ भी महसूस नहीं होता।' मैंने जब अँगुली से उसका चेहरा छुआ तो वह प्लास्टर आफ पेरिस-सा सख्त था, भोर की नमी से ठंडाया। उसके चेहरे पर मेरी अँगुली का निशान इस तरह उभर आया, जैसे पूस की सुबह खिड़की के काँच को छू दिया हो। 'क्या भाई साहब, यह संभव है कि कोई प्राणी देखते-देखते सफेद मिट्टी हो जाए ?'

'बाबूजी का कहना है पुश्तैनी मकान की लखौरी ईंटों से उड़ी धूल उसके कोमल चेहरे पर बैठकर जम गयी है और आजकल बाबूजी एहतियातन जहाँ-जहाँ ईंटें भुर्र-भुर्रा आयी हैं, कागज से भर रहे हैं।'

अंत में उसने लिखा था 'भाई साहब, अब यह दुर्गंध मुझसे सही नहीं जाती। मैं वहाँ आना चाहता हूँ। हाँ, जीजी की चिन्ता न करना, अभी वह सिर्फ गले तक ही जमी है। अम्मा कल किसी तरह रस्सियों से उतर कर कहीं से ताबीज़ लायी हैं। ठीक हो ही जाएगी। फिर बाबूजी आगे के लिए एहतियात तो बरत ही रहे हैं।'

"आपका मुन्ना" के बाद उसने फिर लिखा था, 'पुनश्च: 'अगर हो सके, तब तक मेरे लिए 'खूब खेलो' का एक क्रिकेट विशेषांक और कपिलदेव का एक 'ब्लो-अप' भेज देना।'

"सुनते हो !" पत्नी ने कहा, "कोई दरवाजा खटखटा रहा है एक घंटे से।" कमाल हैं, वह सोचने लगा, इस पत्नी के कान भी। स्टोव की भाएँ-भाएँ के बावजूद सुन लिया कि कोई खटखटा रहा है, और एक वह है। वह अपने को धिक्कारता धीरे-धीरे उठ गली की ओर खुलने वाले दरवाजे की ओर बढ़ा।

"कौन ?" दरवाजा खोलने से पहले उसने पूछ लेना उचित समझा।

"मैं !" बाहर से थकी-सी आवाज ने कहा।

क्या मुन्ना हो सकता है—एक बारगी उसके दिमाग में कौंधा। पर

उसने तो 'तब तक' के लिए क्रिकेट विशेषांक माँगा था। यह मुन्ना भी अजीब है ! इसकी हर चिट्ठी एक ही तरह की होती है और किसी में भी तारीख नहीं। अब भला कैसे पता चले कौन चिट्ठी कब आयी ! हो सकता है चिट्ठी पुरानी हो पर तब उसने विशेषांक भेजा ही कहाँ। असल में काहिल तो वह है ही पर जब भी वह 'खूब खेलो' खरीदने गया है, पता चला कि वह कभी का बिक चुका है। और अगला विशेषांक खरीदने के लिए उसे लाइन में लगना होगा। यह ठीक है कि यहाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था है और सब समान हैं, पर सारी रात अखबार के दफ्तर के बाहर क्रिकेट विशेषांक के लिए लाइन में लगना संभव भी तो नहीं है। आखिर वह शादी-शुदा आदमी है।

वह निर्णय नहीं कर सका, पर 'मैं' के उत्तर के बाद 'मैं कौन ?' पूछना उसे बेहूदा लगा और उसने दरवाजा खोल दिया।

'आप ?' क्या मुन्ना इतना बदल सकता है ? वह अनिश्चय में था। इसे क्या हुआ होगा ? क्या कहीं झगड़कर आया है ? वह उस आदमी की हालत देखकर घबरा गया था।

"मैं 20199843 हूँ।"

इतना खून कैसे हुआ होगा ? क्या ऐसी हालत में जबकि किसी का सर इस बुरी तरह कुचला हुआ हो और भेजा दिखलायी दे रहा हो, उसे अस्पताल नहीं जाना चाहिए !

"कौन ?" वह खून से लथपथ आदमी को पहचान नहीं पा रहा था इसलिए पूछना मजबूरी हो गया।

"मैं 20199843 हूँ।'

"लेकिन······" वह घबराहट में कुछ अटका। "लेकिन यह नम्बर तो मुन्ना का है।" उसने कह ही दिया।

लगातार खून टपका रहे आदमी ने फिर कहा, 'नहीं ! 20199843 तो मेरा पंजीकृत नम्बर है। आपने ही दिया था।'

अचानक सड़ांध बढ़ गयी। उसने आत्महीनता में दोनों हाथ पीठ के पीछे कर मुट्ठी बंद कर ली। (शायद अम्मा ठीक कहती है।) हाँ, उसी का दिया नम्बर है, तब मुन्ना का नम्बर भी आसपास ही होगा।

"तुम्हें कॉल लैटर आयेगा। टाइपिंग टेस्ट तो तुमने पास कर लिया था न ?"

"आपको पता है मेरा बैग कहाँ है ?" उस 20199843 ने पूछा।

"बैग ?" उसकी समझ में नहीं आया।

"बैग ! उसमें 12 सौ रुपये थे, सामान के।"

"नहीं तो !" वह समझ नहीं पाया ये आदमी क्या कह रहा है।

"मेरा बैग जिसमें सौ-सौ के आठ, पचास के तीन, दस-दस के पंद्रह और बाकी पाँच, दो और एक के नोट थे, सामान के लिए।"

"नहीं मुझे नहीं मालूम।" उसने आतंक में सर हिलाया।

"पर आप वहाँ थे तो ?" रक्तरंजित ने कहा।

"कहाँ ?"

"सुबह, उस भीड़ में।"

उसे अब याद आया उसकी मटमैली धारीदार पैंट के कारण, जो कमरे से आये प्रकाश के एक टुकड़े से चमक रही थी।

उसकी बस अचानक दफ्तर से दो किलोमीटर पहले रुक गयी थी। ट्रैफिक आगे जाम था। मई के महीने में दस बजे की धूप में आलू के बोरों-सी ठस्सा-ठस्स भरी बस में कौन बैठा रह सकता था और फिर वह तो खड़ा-खड़ा ही आ रहा था। बस के जल्दी चलने के आसार नहीं थे। पहले खड़ी हुई सवारियाँ उतरीं, फिर बैठे हुओं में से भी कुछ लोगों ने सीट का मोह त्यागा और जब वह दफ्तर समय पर न पहुँच पाने की बेचैनी में सिगरेट सुलगा रहा था कि किसी ने कहा—एक्सिडेंट हो गया है। साइकिल सवार बस से टकरा गया है। काम पर जाते लोगों की भीड़ बसों के पेट से इस तरह निकल कर फैल गयी थी जैसे चीटियाँ बरसात में बिल में पानी घुस जाने से। वह भी धीरे-धीरे चलकर वहाँ पहुँच गया था जहाँ भीड़ ने घेरा बना लिया था।

"मर गया है" किसी ने कहा था।

"नहीं, अभी जान है", दूसरे ने कहा।

"पर बचेगा नहीं," तीसरे ने कहा।

"पुलिस आ गयी है ?" चौथे ने पूछा।

"देखते नहीं, सामने कौन है ?" किसी और ने कहा।

"पर यह इस तरह खड़ी क्यों है," पहले ने पूछा ।

"एंबुलैंस का इन्तजार है," एक और ने कहा ।

"पर एंबुलैंस आयेगी कैसे ?" किसी ने फिर प्रश्न किया।

"ऐसे तो मर ही जायेगा," उस आवाज ने जो मरने की घोषणा कर चुका था, फिर कहा।

"पर इन्हें इसे ले जाना चाहिए," एक और ने कहा।

"यह काम पुलिस का नहीं है", किसी और ने कहा ।

"क्यों जी ट्रैफिक कब खुलेगा ?" उसने निश्चिन्त खड़े सिगरेट पी रहे सिपाही से पूछा था ।

"जब एंबुलैंस आयेगी।" सिपाही ने कहा।

"एंबुलैंस कब आयेगी ?" उसने कुछ हैरान हो पूछा।

पुलिस-वाला इस पर झल्ला उठा था, "देखते नहीं क्या, ट्रैफिक किस कदर जाम है। एक तो मर ही रहा है, क्या तुम चाहते हो दो-एक को एंबुलैंस कुचल दे ? अरे, जब ट्रैफिक चलेगा एंबुलैंस भी आयेगी। अजीब बेवकूफ मिल जाते हैं।"

वह सकपका गया था सिपाही के जवाब और लोगों की सम्मिलित हँसी से, जो उसकी भद्द पर उनको आयी थी। हँसी से मची खलबली के कारण भीड़ में पड़ी दरार से उसने एक पल को सड़क पर पड़े आदमी का पैर देखा था जो मटमैले धारीदार पतलून के पहुँचे से ढका था। तो, क्या यह वही होगा सुबह वाला ? उसने सोचा पर वह निश्चय नहीं कर सका, क्योंकि उसने सड़क पर पड़े उस आदमी का चेहरा तो रहा दूर, एक पैर तक पूरा नहीं देखा था। और वह वहाँ से सरक कर वापस अपनी बस के नजदीक जा पहुँचा था और वहीं बस की छाया में ही खड़ा हो गया था—सोचता हुआ कि अपने देश का कुछ नहीं हो सकता। देश के बारे में यह तभी सोचा करता था जब अक्सर व्यक्तिगत तौर पर बहुत तंग हो जाता था। न जाने कब तक वह खड़ा रहा सोचता हुआ-अंतहीन बातें, अंतहीन प्रतीक्षा में बसों के चलने की। इसी बीच पुलिस ने भीड़ को

न जाने कब हटा दिया था और न जाने कैसे यातायात एक तरफा धीरे-धीरे सरकने लगा था ! वह भी लपक कर अपनी बस में चढ़ गया था।

अगर यह सुबह की बात कर रहा है तो वही होगा, उसे विश्वास-सा होता जा रहा था, क्योंकि इस बीच जबर्दस्त गड़गड़ाहट के साथ चमकी बिजली ने उसकी खून में सनी, जगह-जगह रगड़ लगकर फटी पैंट को उजागर कर दिया था।

"वर्षा पड़ेगी," उसने अपने आप से कहा।

"आप कुछ बता सकते हैं ?" रक्तरंजित आगंतुक ने फिर पूछा।

"लेकिन तुमको "कॉल लैटर" क्यों नहीं आया ?" उसने भी प्रश्न किया।

"आपके दफ्तर ने मुझे बतलाया था कि पिछले से पिछले जाड़े एक लैटर मेरे नाम चला था !"

"फिर ?" उसने कुछ उत्साहित हो पूछा।

"पर मिला नहीं, शायद, ठंड के कारण रास्ते में कहीं जम गया।"

"ठंड !" उसने दुहराया, "ठंड !"

आगंतुक चुप रहा।

"मैं इस बार देखूंगा।" उसने भरोसा दिया।

"पर जब तक ठंड पिघलेगी नहीं, वह आ नहीं सकता। इसीलिए मैं अपने रुपयों को ढूंढ रहा हूँ। आप बता दीजिये न आप वहाँ थे।"

"लेकिन वहाँ तो बहुत लोग थे।" इस बार वह कुछ चिढ़ गया, "मैं ही था क्या वहाँ ?"

"मैं सबसे पूछ रहा हूँ जितने भी लोग वहाँ थे, सबसे ही तो पूछ रहा हूँ।" रक्तरंजित ने थके स्वर में कहा।

"पर क्या सबूत है कि तुम्हारे पास इतने पैसे थे ही ?" उसने पूछा और दिल-ही-दिल में इस आशंका पर विचार करने लगा कि यह आदमी कहीं अपना फूटा हुआ सर दिखाकर शरीफ लोगों को ठग तो नहीं रहा है ?

"चाहो तो मुझसे कुछ पैसे ले लो," उसने पिंड छुड़ाने वाले अंदाज में

कहा और बिना कुछ सुने मुड़कर अंदर की ओर रुपये लेने चल पड़ा। कितने रुपये उपयुक्त रहेंगे, निर्णय करने में उसे कुछ सेकेंड लगे थे। आखिर चोट तो लगी है ही, यह सोच वह पाँच का नोट लेकर लौटा।

बादलों की गड़गड़ाहट तेज हो चुकी थी। आकाश अन्धा उजाड़ था। मकान, सड़कें और खम्भे अपने लट्टुओं समेत उनकी टकराहट की कौंध की चमक में थर्रा उठते थे, पर रक्तरंजित नजर नहीं आ रहा था। ऐसी हालत में आखिर गया कहाँ होगा, वह कुछ सोच में पड़ गया और दो कदम आगे बढ़कर उसने खोजने की कोशिश भी की, पर कहीं कोई नहीं था।

"चलो अच्छा हुआ, चला गया। इतने खून-खच्चर आदमी से किसी समझदार आदमी को इतनी देर बात भी नहीं करनी चाहिए। पुलिस फौजदारी के चक्कर में कौन पड़े," उसने मन-ही-मन सोचा। बूंदा-बांदी शुरू हो गयी थी जो दो कदम की दूरी तय करने तक तेज वर्षा में बदल गयी। उसने जल्दी से सिटकनी चढ़ायी और वापस चारपाई पर पसर गया। नींद के पहले झोंके के साथ उसे याद आया—क्या नम्बर 20199843 अभी तक अस्पताल नहीं गया होगा ?

सुबह कमरे के फर्श पर पैर के छापों से वह दहल गया था। खून के छापे, जो बाहर से आये थे और चारपाई पर जाकर खत्म हो रहे थे।

पत्नी ने बहुत मुश्किल से रगड़-रगड़कर कई बाल्टी पानी से उन्हें मिटाया। तब कहीं वह चारपाई से उतरा। गनीमत रही पत्नी को बाहर साफ नहीं करना पड़ा, क्योंकि उसी रात सौ-साल का रिकार्ड टूटा था और वर्षा बाहर टपके खून के आखिरी निशान तक धोकर ले गयी थी।

उस रात 'मार्निंग टाइम्स' में शिफ्ट इन्चार्ज सक्सेना थे।

जब 'सिटी एडिशन' का फ्रंट पेज उन्होंने छोड़ा, तब तक न यू०एन० आई० और न पी० टी०आई० के 'टिकर' पर वर्षा के बनाये रिकार्ड की खबर आयी थी। आती भी कैसे वर्षा तब तक थमी नहीं थी। हाँ, जहाँ तक वर्षा का सवाल था, उस पर उन्होंने चार कालम का डबलडेकर हैडिंग लगाया—'शहर में भारी वर्षा, कई इलाके डूबे।' पेज छोड़ने के बाद वह

वहीं मेज पर सो गये थे, क्योंकि ट्रान्सपोर्ट विभाग ने उन्हें बताया था कि जो गाड़ियाँ पहली शिफ्ट वालों को छोड़ने गयी थीं, लौट नहीं पायी थीं।

पिछले सौ-साल में ऐसा नहीं हुआ था, यह पी० टी० आई० ने मौसम विभाग के हवाले से अगले दिन दोपहर बतलाया। मई 1909 में 24 घण्टे में चार सेंटीमीटर पानी पड़ा था जो तब तक का रिकार्ड था। पर मई के उस दिन 24 घण्टे में 12 सेंटीमीटर रिकार्ड-तोड़ पानी पड़ा और तापमान 25 डिग्री सेलसियस पर जा पहुँचा, यानि न्यूनतम से 6 डिग्री कम। क्या कम होता है इतना गिरना ?

और इस सब गिरावट के बारे में 'मार्निग टाइम्स' अगले दिन छाप पाया था। सक्सेना जी का उस दिन वीकली ऑफ था। फिर भी रिपोर्ट दो कालम में वर्षा के तीसरे दिन भी फ्रन्ट पेज पर छपी थी।

और उसी दिन उनके सिटि-रिपोर्टर की पुलिस के जनसंपर्क अधिकारी द्वारा दी सूचना के आधार पर तीसरे पेज पर चार-पाँच लाइन की तीन वाक्यी रिपोर्ट छपी थी। कुँवर सिंह नामक 28 वर्षीय युवक चौराहे पर सिटी बस से टकरा गया था। पुलिस ने उसे तुरन्त अस्पताल पहुँचाया और वहाँ चार घण्टे बाद उसकी मृत्यु हो गयी। ग्रैजुएशन के कई साल तक बेरोजगार रहने के बाद उसने गत वर्ष एक सूत्र मिलने पर खोमचा शुरू किया था। इसका उद्घाटन प्रधानमंत्री ने किया था।

रिपोर्ट में कहीं नहीं लिखा था कि उसका रोजगार कार्यालय का पंजीयन नम्बर 20199843 था।

उसने कुछ देर सोचा फिर मुन्ना को तार दिया…।

(198?)

बच्चे गवाह नहीं हो सकते ?

पहले 18 मार्च, सन 1984 से पूर्व का किस्सा।

मूल तर्क वैसे यही था कि बच्चे तो आखिरकार बच्चे ही हैं। उनका मन रखना ही पड़ता है वरना पिता हुए न हुए बराबर ठहरा। वैसे भी सप्ताह में दो दिन आपके बच्चे एक के बाद दूसरे घर से दुत्कारे जायें, यह कोई बाप—अगर वाकई बाप है, तो कैसे सह सकता है ! फिर बच्चे भी कम नहीं, तीन-तीन। यानी अपमान भी तिगुना और वह भी इन अनपढ़ चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों से ! कोई 38 नम्बर से मुँह लटका कर आये तो कोई 102 से रोता हुआ और कोई 35 नम्बर से गालियाँ बकता हुआ।

तर्क दूसरा भी था। वह था अहूजा का। एक दिन आहूजा ने बिशन दत्त से पूछा, "अरे पंडत, बड़ा अखबार पढ़ता रहता है, जरा एक बात तो बता ?"

बिशन उसके अखबार क्या, अक्षर-विरोध तक से परिचित था सोचा यों ही रोज का मामला होगा इसलिए सिर्फ 'हूँ' कह कर रह गया।

"ये मच्छलीवाले फारम रेलवे-लाइनों के नजदीक ही क्यों बनाये जाते हैं ?" आहूजा ने सवाल दाग दिया।

बिशन को अपने अखबार-प्रेम और जी० के० पर बड़ा नाज़ था। वह बतला सकता था कि पिछले साल भारत में कितनी टन मछली समुद्र से और कितनी टन नदियों से पकड़ी गयी थी। वह यह भी बतला सकता था कि इसमें से कितनी हमने खायी और कितनी विदेश भेजी गयी। पर इस रेल की लाइन और मछलियों के अन्तर सम्बधों की ओर तो उसका

ध्यान गया ही नहीं था।

"इसलिए कि," उसे चुप देखकर आहूजा बोला था, "रेल की आवाज से मच्छलियाँ तेजी से इधर-उधर भागती हैं और फटाफट बढ़ती हैं, समझे बेटा।"

वह विस्मित रह गया था। आहूजा का प्रश्न ब्रह्मास्त्र साबित हुआ था।

आहूजा बोल रहा था, "एक और प्रश्न पूछूं?" उसने बिशन की खामोशी को स्वीकृति मान लिया, "डायनासोर के सबसे बड़े अण्डे कहाँ पाये गये हैं?"

"अफ्रीका!" ब्रह्मास्त्र की मूर्छा से संघर्ष करते हुए बिशन ने तुक्का लगाया।

"नहीं बेटा, रआ द इशा में।"

बिशन दत्त की हिम्मत नहीं हुई कि पूछे ये साला रआ द इशा कहाँ हुआ?

"इसे कहते हैं आम के आम गुठली के दाम," आहूजा ने उसे ध्वस्त करते हुए भाष्य किया, "एन्टरटेनमेंट का एन्टरटेनमेंट और नॉलेज की नॉलेज।"

आहूजा से मात खाने के बाद वह अभी बहुत हो गया अब-कुछ-करना चाहिए वाली मानसिकता में पहुँचा ही था कि दो दिन बाद 102 नम्बर के क्वार्टर की खिड़की का आखिरी शीशा,हताशा कहें या गुस्से में, बिशन दत्त के 11 वर्ष के बड़े बेटे रघुवा के पत्थर के सामने आ गया। खोपड़ा झनझनाया बिशन का। नतीजतन उनके और 102 नम्बरवालों के बीच वो शाब्दिक फौजदारी हुई कि बाकी मौहल्लेवाले उनको खदेड़कर रिंग रोड पर छोड़ आने को उतारू हो गये।

102 नम्बरवालों का तर्क था, "चलो खिड़की का काँच टूटा (सरकारी था—यह इसमें निहित है), अगर कोई और चीज टूट जाती तो?"

यद्यपि इस 'तो' की कल्पता मात्र से उसकी आत्मा काँप-काँप उठती पर चूंकि वे लोग 'तो' पर ज्यादा जोर दे रहे थे इसलिए वह भी बार-बार काँप-काँप जाती आत्मा के बावजूद, जरा जोर से, 'तो क्या होता?'

कहे जा रहा था।

सच्चाई यह है कि अगर उस दिन रविवार न होता तो संभव था किसी-न-किसी का काम तमाम हो ही जाता। और इस 'तो' के कारण कम-से-कम वह कहीं मुंह दिखलाने लायक नहीं रह गया होता। पर क्योंकि लोगों को और खुद 102 वालों को भी फिल्म देखने की हड़बड़ी थी इसलिए मामला जल्दी रफा-दफा करवा दिया गया और उसका सम्मान बच गया। अब देखिये, बड़े आदमी की बड़ी बात ! 'हैव' और 'हैव नाटस्' में यही तो अन्तर होता है। 35 नम्बरवालों ने 102 नम्बर वालों को डांटकर चुप रहने को कहा और वे चुप भी हो गये । 68 नम्बरवाले सारे बच्चों समेत उसे अपने घर जबर्दस्ती फिल्म दिखलाने ले गये और मध्यांतर में उसे एक पूरा कप चाय भी पिलवायी। इस पर भी निर्णायक घड़ी तो आ ही गयी थी। चाय पीते-पीते ही उसने फैसला कर लिया कि अरे बिशनयां तू भी आदमी का नहीं कुत्ते का बच्चा होगा अगर अगले इतवार तक अपने ही घर पर फिल्म न देखे।

अगला सप्ताह वाकई चुनौती साबित हुआ। रात भर में उसने रण-नीति निर्धारित कर ली थी कि कल दफ्तर पहुंचते ही पहला काम प्रोविडेंट फण्ड से एडवांस के लिए एप्लाई करने का होगा। फिर आहूजा के साथ चावला इलैक्ट्रानिक्स से जाकर किस्तों की बात तय करेगा तब कहीं घर लौटेगा। जब खुदी बुलन्द हो जाए तो फिर रह क्या जाता है ! सारे दिन दफ्तर में उसने कोई काम नहीं किया सिवा किस्तों और मॉडलों की जानकारी हासिल करने के। उसने उसी शाम एकाउन्टेंट वर्मा को खाने पर बुलवाया और खाना शुरू होने से पहले ही तीसरे पेग के साथ ही हामी उगल वाली कि एडवांस हर हालत में शनिवार से पहले ही मिल जाएगा।

वर्मा ने भी वचन निभाया और इस तरह वह, उस रवि से, चतुर्थ श्रेणी के उन सरकारी कर्मचारियों से, जिनकी कालोनी में बाबू होने के बावजूद, चोरी-छिपे रहने के लिए वह अभिशप्त था, अपमानित होने से मुक्त हो गया।

हाथ में आते ही बिशनदत्त ने पूजा के चढ़ावे की-सी निष्ठा से पूरे-के-

पूरे दो हजार चावला इलैक्ट्रानिक्स में जमा करवा दिये और शेष की गारण्टी के लिए आहूजा ने जहाँ-जहाँ भी जरूरी था हस्ताक्षर कर दिये। गाढ़े समय में क्या कोई दुश्मन का मुँह ताकता है। असल में रविवार के एक दिन पहले ही उसके घर 36 इन्ची डीलक्स मॉडल आ पहुँचा था। यह बात और है कि बाकी दो हजार के लिए वह गारण्टी के कारण पच्चीस महीने बिना नागा 'चावला इलैक्ट्रानिक्स' में सौ रुपया जमा करवाता रहा।

सौ की चावला की और 50 की प्रोविडेंट फंड की किस्त ने मिलकर आठ सौ रुपये की तनख्वाह साढ़े छह सौ कर दी। ऐसे में कहाँ कटौती होती है, हम सभी जानते हैं। एक तो पुरानी बीमारी, ऊपर से पाँच प्राणियों का परिवार, जिसमें ज्यादा बच्चे। पत्नी दूध पीने की सीमा से लगातार बाहर रही थी, इसलिए दूध बिशन का ही कटा। यदा-कदा के मौसमी फल भी अब गैर-मौसमी से बेगाने हो गये और सब्जियाँ कौर को हलक में अटकाने लगीं।

दसवीं किस्त के बाद की और ग्यारहवीं से पहले की बात है कि बिशन दत्त की पुरानी खाँसी फिर से उभर आयी। जब तक हल्की रही वह सरकारी डिस्पेंसरी जाता रहा।

· तेहरवीं किस्त के दिन उसे बुखार भी था। उसी रात खाँसी बहुत बढ़ गयी। अब डाक्टर के चक्कर भी बढ़ गये। उस दिन वह जब चावला इलैक्ट्रानिक्स जा रहा था उसकी टागें कुछ काँपीं थीं। 'ओवर आल' कमजोरी है, उसने सोचा, कुछ विटामिन-बी कांप्लैक्स के इंजेक्शन लगवा लूं। पर सोचते-सोचते दो और किस्तें निकल गयीं। सरकारी डाक्टर से वह कुछ भी कहते डर रहा था। अगले महीने तक उसकी हालत इतनी बिगड़ गयी कि उसके लिए बीमारी छिपाए रखना असंभव हो गया। अब डाक्टर के पास जाना खतरनाक हो गया था, इसलिए बन्द कर दिया। बीच में छह महीनों में पंद्रह-पंद्रह दिन करके वह एक महीने की छुट्टी ले चुका था। उसे विश्वास था, यों कहिए की अनुभव था कि इस बार डाक्टर 'स्पुटम' के टैस्ट के बाद एक्सरे को कहेगा। अभी चार साल पहले तो वह छह महीने मेडिकल छुट्टियाँ काट चुका था। अगर इस बार यह नौबत आयी तो आधी तनख्वाह भी नहीं मिलेगी। फिर बच्चे कहाँ जाएंगे ? मान लो—उसने सर्वोपरि

चिन्ता की—बच्चे गाँव चले भी जाएँ तो भी चावला का क्या होगा ? उसके लोग कहीं तीन हजार आठ सौ रुपया देने के बाद भी उनका सेट ले गये तो ? वह सिहर उठा था।

रुपया घटता गया। सात से छह हुआ, छह से पाँच, पाँच से चार, फिर तीन, दो, एक और वह मुक्त हो गया। पूर्णतः मुक्त—संविधान में मिले सारे अधिकारियों से लैस देश के किसी भी नागरिक की तरह।

ठीक 12 तारीख सोमवार के दिन उसने अंतिम किस्त चुकायी। मंगल को वह पिछले रिकार्ड के साथ सरकारी डाक्टर के पास पहुँचा। यद्यपि इसकी कोई खास जरूरत नहीं थी, डाक्टर ने देखते ही कह दिया था। इस पर भी शुक्रवार 16 तारीख को 'स्पुटम' और एक्सरे रिपोर्ट की दो दिन की खानापूरी के बाद डाक्टर ने उसे फौरन उसी दिन भर्ती होने का आदेश सुना दिया। वह इस बात के लिए लगभग तैयार था भी ! वरना और क्या करता। जब जान पर बनी होती है असम्भव-से-असम्भव निर्णय भी आनन-फानन में हो जाते हैं। पर 17 की होली थी और 18 मार्च का रविवार। चित्रहार की तो चलो कोई बात नहीं, वह तो शाम को हुआ ही, पर अपने, यानी पूरी तरह अपने, टी० वी० सैट पर, बिना किसी उधार के भार के, इस रविवार की फिल्म तो देख ही लूं, न जाने कितने दिन एडमिट रहना पड़े—उसने सोचा था।

होली उसने ज्यादा नहीं खेली। वह जल्दी थक गया ! वैसे भी वह बलाम फोर से 'डिस्टेंस' बनाये रखता था। फिर उस दिन उसे ज्वर भी था। पिछली रात खाँसते-खाँसते ही कटी थी। बलगम कुछ ज्यादा ही रक्ताभ हुआ जा रहा था।

•

अब 18 मार्च का किस्सा।

सारे दिन वह काफी ठीक रहा। ज्वर रहा भी होगा तो महसूस नहीं हुआ। सम्भवतः आनेवाली फिल्म के लिए वह कुछ ज्यादा ही उत्साही था।

फिल्म अच्छी थी या सम्भवतः इसलिए अच्छी लगी कि वह अपने को बिल्कुल हल्का महसूस कर रहा था, जैसे उसकी साँसों पर से कोई बहुत भारी बोझ हट गया हो। वह एक बार भी नहीं खाँसा। मजा आ रहा था।

परकीया प्रेम ही तो असली प्रेम होता है। क्या गाना था! अमिताभ ने ठुमका लगाया कि उसके पैर स्वयमेव ही थिरकने लगे थे '...चूनरवाली' सुनते ही।

मध्यान्तर हुआ।

विज्ञापन आने लगे। बीच में कुछ-न-कुछ जरूर आयेगा, उसे मालूम था, इसलिए वह बैठा रहा। आहूजा से जी० के० में हारना नहीं है, अगली बार न जाने किस के अण्डों के बारे में बात कर बैठे। रघुवा भी जमा रहा, वह विज्ञापनों का विशेष शौकीन है। विज्ञापनों के संसार का भी तो एक अपना ही आकर्षण है।

पहले चाय का विज्ञापन आया। क्या पत्नी है, बिशन ने न चाहते हुए भी रघुवा की माँ से तुलना करते हुए सोचा। फिर आयी उसे चाय की याद। गो कि वह इधर कम चाय पी रहा था, पर आज, उसने सोचा चाय होनी ही चाहिए—एक कप गर्म जायकेवाली, जो उसके फिल्म के आनन्द को और भी गहरा बना दे। उसने बैठे-बैठे ही रसोई में खुदुर-बुदुर कर रही रघुवा की माँ को चाय की फरमाइश सुना दी।

अब पर्दे पर बिस्कुटों की बारी थी। रघुवा के मुंह में पानी आ गया, अनजाने ही। आना ही हुआ बच्चा ठहरा। कहने की बात हुई '...मत ललचाये जी।'

फिर सेनेटरी नैपकीन से सुरक्षित लड़की मुस्करायी। लड़की क्या एक चीज थी। बिशनदत्त का रोम-रोम हाथ-घड़ी के पैंडुलम की तरह देर तक काँपता रहा।

जब साइकिलों का रेला आया तो रघुआ खड़ा ही हो गया। उसने सोचा, कहे—पापा मेरे लिए एक साइकिल...पर उसकी हिम्मत नहीं हुई।

सम्पूर्ण खाद्य 'शक्ति' का विज्ञापन साइकिलों के ठीक पीछे था, जैसे साइकिल चला कर थके-हारे लड़के-लड़कियों को कह रहा हो—'शक्ति एक सम्पूर्ण खाद्य है, थके हारों के लिए, दूध में डालिए और पी जाइये।"

"दारा सिंह," रघुवा ने सीट पर उछलते हुए कहा। गंजी में डोले चमकाते हाथों में 'शक्ति' का डिब्बा लिये हुए, बिशन ने देखा, वाकई दारा सिंह था। बाप का सपना किस हद तक बेटे का भी हो जाता है! बिशन

की समझ में नहीं आ रहा था। कभी उसने भी विश्वविजेता पहलवान बनने का सपना देखा था, उन दिनों शायद ही कोई फ्री-स्टाइल कुश्ती उससे देखने से बची हो। खुद उसने गली-मोहल्लों में कितनी फ्री-स्टाइल कुश्तियाँ लड़ी होंगी, अब याद नहीं।

दारासिंह के पीछे पृष्ठभूमि से कोई कह रहा था :

'शक्तिशाली, हृष्ट-पुष्ट और
चुस्त-दुरुस्त बनने का राज
'शक्ति ! शक्ति ! शक्ति !'
आपके लिए जरूरी सभी आवश्यक विटामिनों और प्रोटीनों से युक्त।
विश्व प्रसिद्ध अमरीकी कम्पनी के सहयोग से बना
एक सम्पूर्ण खाद्य !
'शक्ति' अपनाइये, दारा हो जाइये ···'

अभी अन्तराल की टिढिंग हुई भी नहीं थी कि बिशन ने देखा, वैसा ही एक हाथ, जैसे उसके हाथ नहीं हो पाये थे, अचानक डिब्बे समेत उसकी ओर आ रहा है—लो तुम भी पीना 'शक्ति', दारा अट्टहास करता हुआ कह रहा था।

"नहीं, नहीं, मुझे नहीं चाहिए," बिशनदत्त ने लगभग चीख कर दोनों हाथों से उस हाथ को रोकना चाहा था। सिर्फ घबराहट में कि न जाने कितने दाम का हो। यह सब चीजें उसके अनुमान से परे थीं।

अब यह कहना तो अनुचित होगा कि दारासिंह मजाक के मूड में था। नहीं-नहीं किसी भी तरह के मूड पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, पर मजाक का भी तो स्तर होता है। कुछ भी हो, बिशन से थोड़ी देर हो गयी। हाथ सीधा उसके सीने पर डिब्बे समेत पूरे जोर से पड़ा। दारा का हाथ आप जानते ही हैं।

टिढिंग के बाद रघुवा ने एक विदेशी कार को अपनी आँखों से रुकते देखा। उसमें से जो आदमी निकला वह चीते-सा फुर्तीला था, उम्दा कपड़ों में सजा। वह आदमी रघुवा ने देखा था, बिजली की तेजी से घूमा था। उसने

न जाने कब, अपने कोट की किस जेब से, रिवाल्वर निकाली थी और न जाने कब दाग दी थी—ढिशूँऽऽऊँऽऽढाँस्ऽऽऽऽ ! आवाज के साथ ही टी० वी० का पर्दा विभिन्न किस्म के रंगों व डिजाइनों से भर गया, यह अनुमान रघुवा अपने सादे सैट पर भी लगाने से नहीं चूका था, उन रंगों का अनुमान जिनमें एक सुर्ख लाल रंग भी जरूर रहा होगा। पर रिवाल्वर के मुँह से, रघुवा ने, हल्का धुआँ उठते स्पष्ट देख लिया था। धुवाँ देखने के लिए रंगीन सैट की आवश्यकता नही होती।

ओऽओऽऽओऽऽआक ! की भयंकर कराह भी रघुवा ने ही सुनी थी। नहीं, यह टेलीविजन से नहीं आयी थी। पर्दे पर उस समय तक एक नया ही खुशनुमा विज्ञापन चलने लगा था—जिन्दगी को और भी सुन्दर बनाने का। पर पर्दे से बाहर जो हो रहा था, वह अविश्वसनीय था। रघुवा देख रहा था, किसी फिल्म के स्लो मोशन शाट की तरह अपनी पूरी विकरालता और बारीकी में उसके पापा बिशनदत्त अपनी छाती दबाये हुए सेमल के फूल के रुओं-से हवा में थोड़ा-सा उछले थे और उसके बाद धप्प से फर्श पर औंधे मुँह जा पड़े थे। जब वह घट रहा था, रघुवा को लगा था कि वह अपने पापा को रोक सकता है हवा में ही, गिरने से पहले, पर वह इतने आतंक में था कि उसकी सारी इन्द्रियाँ स्तब्ध हो चुकी थीं।

जब तक वह आपे में आया फर्श पर से खून की धारा बहते हुए रसोई घर की ओर जाने लगी थी। आवाज रघुवा की उस समय भी बन्द थी, जैसे किसी ने कस कर गला पकड़ लिया हो। यह कैसे हो सकता है ? उसकी समझ में नहीं आ रहा था। लेकिन···

हाँ, गोली चलते उसने देखी थी—अपनी आँखों से !

(1984)

ये है चिड़िया घर

उन दिनों काफी ठंड पड़ रही थी। न्यूनतम तापमान कभी-कभी गिरकर तीन डिग्री सेंटीग्रेड तक पहुँच जाता था, जैसे उस रात।

जेवरा अफ्रीकी महाद्वीप के पूर्वी, दक्षिणी और केन्द्रीय भागों में पाया जाने वाला एक खूबसूरत जानवर है। यह दो मीटर से 2·4 मीटर तक लम्बा और 1·2 मीटर से 1·4 मीटर तक ऊँचा होता है। इसका वजन साढ़े तीन सौ किलोग्राम तक होता है। इस पर भी यह 64·4 किलोमीटर प्रति घंटे की रफ्तार से दौड़ सकता है।

जहाँ तक इसकी खूबसूरती का सवाल है, उसके बारे में शंका नहीं है।

यहाँ तक कि ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटुओं में भी यह बच्चों को आकर्षित करता है। इसीलिए उस दिन यानि शुक्रवार को जब सुबह रिंकू ने अखबार में प्रधानमन्त्री की जगह जेवरे की फोटो देखी तो वह बहुत प्रसन्न हुई। जेवरा तना हुआ जमीन पर पड़ा था।

फोटो छपने के दूसरे दिन रविवार को आपने पढ़ा होगा कि हरेकृष्ण कौल का एक व्यक्ति जांच आयोग बैठा दिया गया है, जो मामले की पूरी जांच करेगा।

असल में रिंकू ने जिस जेवरे की फोटो देखी, वह 29 घण्टे पहले मर चुका था। शुक्रवार को तीन बजे सुबह।

मैं घटना-क्रम संक्षेप में बयान कर देता हूं।

जैसा कि उन दिनों दिल्ली में बहुत ठण्ड पड़ रही थी। हथिनी गौरी जो सालाना जलसे में भाग लेने अपने महावत कुट्टीस्वामी के साथ तिरुपति से आयी थी, रात को ठण्ढ जो तीन सेंटीग्रेट पर थी सहन न कर सकी और बहक गयी। ठण्ड से पगलाई गौरी ने गड़बड़ में जंजीर तोड़ी और सारे चिड़िया घर का चक्कर लगाकर झड़ियों की दीवार फाँद जेबरे के हाते में जा घुसी। इसके बाद क्या हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता, जैसे कि क्या वह जेबरे को बाहर कर खुद वहाँ घुसना चाहती थी और जेबरा अपने घर और अधिकार की रक्षा करता हुआ शहीद हो गया था या अफ्रीकी जेबरे को एशियाई हाथी नहीं सुहाया था और उसने कुछ कह दिया था, जिससे हथिनी बिगड़ गयी थी अथवा हथिनी यों ही मस्ताई हुई थी और उसने आनन्द में जेबरे को हलाक कर दिया था।

कुछ भी हो, ज़ेबरा सुबह मरा हुआ मिला था और अखबार नाराज थे। चिड़ियाघर का निदेशक उस समय कहाँ था? कहाँ था महावत कुट्टी स्वामी? ऐसा जेबरा क्या बार-बार मिलता है? अखबारों से ही हमें, और आप को भी पता चला होगा कि जेबरा वी० वी० आई० बी० था अन्यथा इतनी शालीन मौत कैसे मरता! वेरी-वेरी इम्पोर्टेंट वीस्ट— अत्यन्त महत्वपूर्ण पशु। इसे अमेरिका के राष्ट्रपति ने हमारे पहले प्रधान-मन्त्री को भेंट किया था। अब सवाल है, अफ्रिकी जेबरा अमेरिका कैसे आया? तो दोस्तो अफ्रीका की हर चीज, यहाँ तक कि आदमी भी, जिस तरह अमेरिका पहुँचे उसी तरह जेबरा भी पहुँचा होगा और दस पीढ़ी से अमेरिका ही में था। शनिवार को 'मार्निंग टाइम्स' ने अपने फ्रंट पेज संपादकीय में लिखा, 'ये जेबरा कोई आम जेबरा नहीं था। इक्वास क्वागा प्रजाति का था जिसके बारे में कहा जाता है कि इसका अंतिम वंशज 1883 को अमस्टरडम के आर्टिस चिड़ियाघर में मरा था। जहाँ तक सवाल अफ्रीका के जंगलों का है, वह तो 1860 तक ही घुल-पुंछ गये थे।

'मार्निंग टाइम्स' की यह खोज-खबर अपने आप में सनसनी थी। प्रश्न था जिस जाति का अंतिम जेबरा क्रमशः 1860 और 1883 को समाप्त हो चुका था, वह 1983 की उस रात तक अपने चिड़ियाघर में क्या कर रहा था? चूंकि टाइम्स की विश्वसनीयता असंदिग्ध थी, इसलिए

उसके अगले दिन सभी अखबार सहमत थे कि यह खून है खून। खून का बदला खून। लाओ कुट्टीस्वामी ! लाओ डायरेक्टर !

जांच आयोग ने गंभीरता से जांच की—दिल्ली से अमस्टरडम तक। और नीदरलैंड के ही लीडन शहर के 'रिजक्स म्यूजियम वॉन नेच्यूरलिजके हिस्टोरी' में एक मरा हुआ इक्वास क्वागा जेवरा देखा और माना कि मार्निंग टाइम्स सही ही नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक क्षति भी वाकई अतुलनीय थी।

रिपोर्ट ने स्पष्ट किया, यद्यपि जेबरा दस-बारह के झुंड में रहने वाला जानवर है, पर बुढ़ापे में यह एकांतवासी भी हो जाता है। इसी संदर्भ में आयोग ने इस महत्वपूर्ण बात की ओर भी ध्यान दिलवाया कि जेबरा उत्सुक प्रकृति का होता है इसलिए इस प्रजाति के जेबरे बीसवीं शताब्दी का मुंह नहीं देख पाये।

ठंड से पगलाया हाथी जब जेबरे के बाड़े में घुसा तो जेबरा पहले तो उसे देखने आया (अपनी उत्सुक प्रकृति के कारण) और दूसरा बूढ़ा होने के कारण (एकांतवासी) हाथी उसे नहीं सुहाया। वैसे भी हाथी एक तो बदसूरत और दूसरा गंदा था और जेबरा अफ्रीकी होने के बावजूद सुन्दर ही नहीं था, बल्कि कई पीढ़ी योरोप-अमेरिका में भी रह चुका था। उसने हाथी की इस बेजा हरकत का विरोध किया, पर जब जेबरे को लगा कि हाथी बदतमीजी पर उतारू है तो वह 47 सें० मी० की दुम दबाकर दौड़ा—पूरी तेजी से। लगभग आप समझिये 55 कि० मी० की रफ्तार पर और दीवार से जा टकराया।

आयोग ने हथिनी गौरी को सभी आरोपों से बरी करते हुए इस आरोप को खारिज कर दिया कि मामला हत्या का है। उसने सेना के डाक्टरों द्वारा किए गये पोस्टमार्टम की रिपोर्ट के हवाले से कहा कि दीवार से टकराने से उसके उदर, जिगर और फेफड़ों पर चोट आयी जिससे थोड़ी ही देर बाद वह 'इन्टरनल हैमरेज' अर्थात आंतरिक रक्तस्राव से मर गया। स्पष्ट था कि जेबरे को इस बुढ़ापे में उतनी तेज नहीं दौड़ना चाहिए था, जितना कि उसके पूर्वज 1859 तक दौड़ते रहे थे।

आयोग ने आगे कहा, उस रात ठंड चूंकि तीन नहीं दो डिग्री सेंटीग्रेड

तक पहुँच चुकी थी इसलिए निदेशक से यह प्रत्याशा करना कि वह चिड़ियाघर का ध्यान रखता, अमानवीय है। पर कुट्टीस्वामी, जो वहाँ मौके पर था और जिसकी यह जिम्मेदारी भी थी कि हाथी की देखभाल करे, कर्त्तव्य पालन की जगह सो गया था और हद तो यह हुई कि हाथी के ठंड से चिंघाड़ने के बावजूद नहीं उठा था। रिपोर्ट ने स्पष्ट किया था कि अगर महावत चौकस होता और जरा समझदारी से काम लेता तो हाथी की ही ठंड दूर नहीं कर सकता था, बल्कि अपने को भी गर्म रख सकता था। हाथी के खाने के लिए पड़े घासपात को थोड़ा प्रयत्न करने से जलाये रखा जा सकता था और इस तरह इस महान राष्ट्रीय सांस्कृतिक क्षति को रोका जा सकता था।

यह स्पष्ट सिद्ध हो रहा था कि दोष कुल मिलाकर महावत का था। जो उस रात, जब गौरी ठंड से चिंघाड़ रही थी, कहीं पड़ा सो रहा था।

आयोग की इस विस्तृत और तार्किक रिपोर्ट में बस एक प्रश्न रह गया था कि कुट्टीस्वामी अब कहाँ है?

देखिए, हरामी कुट्टीस्वामी की गैर जिम्मेदारी, साला, उस घासपात को, जिसे जलाकर हाथी की ठंड दूर कर सकता था, खुद अपने लिए इस्तेमाल कर रहा था।

पर क्या बेईमान का भी भला होता है कभी? ऊपर ईश्वर किसलिए है।

आयोग ने मौके की जाँच, सोमवार यानि जेवरा मरने के दो दिन बाद ही की थी और वहीं जहाँ हाथी घटना से पहले बँधा था, उसी घास के नीचे, जिसे जलाकर गर्मी पायी जा सकती थी, कुट्टीस्वामी को पाया।

चूँकि कुट्टीस्वामी की पोस्टमार्टम की रिपोर्ट में कुछ विशेष नहीं था, इसलिए उसका उल्लेख मैं भी नहीं कर रहा हूँ।

पुनश्च: वातानुकूलित दड़बोंवाली सिफारिश तो अब आप को भी पता ही होगी, आखिर इतना महत्वपूर्ण कमीशन था।

खैर जानवरों को ज्यादा ठंड और गर्मी से बचाने की राष्ट्रीय नीति तो होनी ही चाहिए—इधर मौसम भरोसे के काबिल नहीं रहा है। (1984)

बेल

खिड़की के साथ लगी वह बुन रही है। महिलाओं के लिए सुरक्षित सीटों में, ड्राइवर की ओर से पहली सीट पर बैठी। इतने अंतराल के बाद भी उसी सीट पर, दस साल पहले के फोटोग्राफ में थम गये 'पोज' की तरह।

पर फोटोग्राफ के बाहर का समय नहीं रुका है। शादी और मेरा पहला बेटा इसी शहर में हुए। सन् 77 में नागपुर तबादला हुआ। दूसरा बेटा और बेटी वहीं की उपज हैं। इसके साथ ही एक सप्ताह की छुट्टी के पश्चात् सरकारी तौर पर मैंने आपरेशन की घोषणा की। इस बीच और बहुत कुछ हुआ। जैसे बाबूजी भी नहीं रहे। बहन की हमने जैसे-तैसे शादी कर दी और छोटे ने प्रेम-विवाह कर लिया। और शरीर ने मेरा साथ दिया है। समय बीतते क्या देर लगती है! बड़ा लड़का चौथी कक्षा में पहुँच गया है। कांता इधर बीमार रहने लगी है। थक जल्दी जाती है और जब देखो चिड़चिड़ाती रहती है। खून की कमी बतलाते हैं डाक्टर। यूं तो थोड़ा बहुत परिवर्तन किसमें नहीं आता, पर कांता की तुलना में मुझे कुछ भी नहीं हुआ है।

इसके बावजूद एक थकावट-सी जरूर रहती है, जैसे सब कुछ पुराना होता जा रहा हो या घसीट रहा हो। खानापूरी करने का हिसाब कहिए। कभी-कभी रिटायरमेंट तक का हिसाब लग जाता है। एक प्रमोशन तो और हो ही जाएगा। न भी हो, पेंशन अब क्या कम हुआ करती है? लड़के तब तक पढ़-पढ़ा कर 'सैटल' हो ही जाएंगे। लड़की की वैसे भी क्या चिन्ता। बस एक बेटी है। उसका विवाह रिटायरमेंट से पहले ही कर दूंगा, फिर शांति ही शांति है।

आप सरकारी बाबू के इस हिसाब-किताब पर हँस सकते हैं। पूछ भी सकते हैं शांतिपूर्ण रिटायरमेंट का क्या करेंगे ? पर तब हम जैसे सामान्य आदमी की जिंदगी में और है भी क्या। मैं ही क्या मेरे जितने भी संगी-साथी हैं इसी यात्रा के यात्री हैं, जिसका मार्ग 'कंडक्टेड टूर' की तरह पूर्व निर्धारित है और हमारे पास चाहते हुए भी दूसरा मार्ग अपनाने का कोई और चारा नहीं है। मेरे सारे बचपन और जवानी के साथी अब या तो गंजे हो रहे हैं या सफेद। लड़कियाँ ! कभी की सहपाठी-सहयात्री प्यारी-प्यारी सुकुमार स्वप्निल आँखों वाली लड़कियाँ जो परियों-सी कल्पना में नाचती रहती थीं, मोटी थुल-थुल माताओं में बदल गयी हैं। नये लोग आ रहे हैं पर जितने नये लोग आते जा रहे हैं उतना ही अपने बीतते जाने का अहसास बढ़ रहा है।

सेक्रेटेरियेट जाने वाली तब हमारे मोहल्ले से वह एक मात्र बस थी, जो सुबह-शाम चला करती थी। मैं दो वर्ष से सुबह नौ बजकर दस मिनट पर उस बस में हुआ करता था। पहली बार 1972 में देखा था उसे। अजीब बात थी लड़की होने के बावजूद, हम बस में चलने वाले लड़कों का कुछ दिन उसकी ओर ध्यान ही नहीं गया। वह बहुत मासूम-साँवली-दुबली थी, कुपोषण की-सी शिकार आम निम्न-मध्य वर्गीय लड़कियों-सी ; बिल्कुल बच्ची। कानों के ठीक ऊपर लटकतीं दो कसी हुई चोटियाँ बनाये, जो नारियल के तेल में चमचमातीं। उसकी वह चोटियाँ आज भी मेरी स्मृति में यथावत झूलती हैं। कांता वैसी चोटियाँ अब बेबी की बनाती है। जिनके बनाने से पहले और बाद में बेबी देर तक रोती रहती है। जब कभी बेबी की चोटियाँ मेरे सामने बनती हैं मेरा और कांता का झगड़ा हो जाता है। मैं पूछता हूँ क्या थोड़ी हल्की चोटियाँ नहीं बनायी जा सकतीं ? कांता कहती है, उछल-कूद करेगी और ढीली चोटियाँ खुलने में मिनट नहीं लगेगा। मेरे पास और भी काम हैं, क्या दिन भर इसी की चोटियाँ बनाती रहूँ ? वह सही है। मैंने देखा है अगले दिन सुबह तक बेबी की एक भी लट चोटी से बाहर नहीं होती। कुछ भी हो, संभवत: कोई भी लड़की स्वयं अपनी चोटियाँ इतनी कसी, जैसे रस्सी बँटी गयी हो, नहीं बना सकती। वह बलात् स्कूल जाते बच्चे-सी असहज

लगती थी तब। वैसे उसमें नोटिस लेने वाली कोई बात थी भी नहीं, सिवा उसके स्कूली बच्चे-से अनमनेपन के। इसलिए हो सकता है कि जब हम लोगों ने उसकी उपस्थिति के प्रति सजगता महसूस की तब तक उसे आते हुए एक-आद महीना हो चुका हो।

जैसा कि आमतौर पर करते थे, पहले हम लोग हँसे थे—लगता है सरकार आजकल बच्चों को भी बाबू बनाने में लगी है। इस पर शायद किसी ने बतलाया था 'कंपैशनेट ग्राउंड' है। इससे पहले स्कूल के अलावा भी कभी वह कही अकेली गयी होगी, सोचा नहीं जा सकता था। सारी यात्रा वह एक बेचैन चुप्पी में काटती। एक-आध बार वह कोई फिल्मी पत्रिका भी लायी थी पर पढ़ने में उसकी विशेष रुचि नहीं थी शायद, इसी-लिए वह पत्रिका जल्दी ही उसकी किसी सहयात्री के पास होती। पर उन जाड़ों में उसे काम मिल गया—अपनी लंबी बेचैन चुप्पी को भरने का। वह स्वेटर बुनने लगी थी। नहीं, ऐसे नहीं। अब तो वह कहीं-कहीं देखती रहती है पर उसकी सलाइयाँ नहीं रुकतीं, जैसे उसके हाथों का उसके बाकी शरीर से कोई मतलब न हो। तब उसकी आंखें अपनी सलाइयों में होतीं। जो ऐसे चलतीं जैसे अंधे सड़क पार कर रहे हों। बीच-बीच में वह अपनी नाक भी साफ करती जाती थी, जो अत्यधिक एकाग्रता के कारण कभी-कभी टपकने को हो आती थी। वह ऊन भी पुरानी थी जिसमें सहारे के लिए एक सूत की डोर लगायी गयी थी। उसके बाद से मैंने उसे कभी खाली नहीं देखा। बाद में उसके हाथों में सलाइयों के अलावा, कुरोशिया और प्लास्टिक की शटल भी आने लगी थी। बीच-बीच में, मुझे याद है, फैशन के मुताबिक वह प्लास्टिक के तारों से भी कुछ बुना करती थी—टोकरी, पर्स और भी न जाने क्या-क्या! बुनना उसे बहुत भा गया था मानो! इसलिए आते-जाते लगातार वह बुनती रहती थी-मौसम के हिसाब से कभी स्वैटर तो कभी बेल! अजीब लगता है अब भी उसे बुनता देखकर। वह बुनती जाती है धागों का एक खूबसूरत जाल जिसमें सुन्दर-सुन्दर पैटर्न उभ-रते जाते हैं, पर जैसे इनसे उसका कोई संबन्ध नहीं है। उसके हाथ चलते रहते हैं। वह एकटक कभी बस के अंदर के शून्य को ताकती है और कभी बस के बाहर के शून्य में उसकी निगाहें टिक जाती हैं, जो बस से चलने के

बावजूद जहाँ की तहाँ अटकी रहती हैं। कई बार भ्रम होता है—लड़की है या एकरस चलने को अभिशप्त कोई यंत्र। जब कभी साँस लेने को रुकती है या डोर के उलझ जाने पर झल्लाती है, तब प्राणों का अहसास होता है।

पर उन दिनों न तो शून्य ही इतना अंतहीन था और न एकरसता इतनी यांत्रिक। अपनी सारी प्रारंभिक उदासी और अनमनेपन के बावजूद उसकी आँखें एक किशोर कौतुक से जगमगाती रहती थीं। तब वह देखी चीजों को भी फिर-फिर देखती थी। आज की तटस्थता और थकन से तब मेरा न तो कभी सामना ही हुआ और होता भी तो मैं इन्हें पहचान न पाता। संभवत: तब हमारे लिए थकन और तटस्थता का अर्थ बुजुर्गी और गंभीरता रहा होगा। क्योंकि तब उसे बुनते-बुनते साँस लेने नहीं रुकना पड़ता था। तब उसकी डोर उझलती भी नहीं थी पर अकसर उसकी डोर का गोला फुदककर सीटों के नीचे कहीं दूर छिप जाता था शरारती बच्चे-सा और हम सब को रोमांचित भी करने लगा था। वह इस पर भी झल्लाती नहीं थी, बल्कि कभी-कभी शायद मुस्करा देती थी।

चीजें जब बदल रही होती हैं तब कुछ विशेष महसूस नहीं होता। पर जब बदल जाती हैं तब यह कल्पना भी मुश्किल हो जाती है कि उनका पहला स्वरूप क्या रहा होगा। उसमें भी बदलाव इसी तरह आया था। सबसे पहले चोटियाँ बदलीं। थोड़ा ढीली होने के अलावा उनकी तेल की, आँखों को चुभने वाली चमक भी कम हो गयी। धीरे-धीरे उसका स्थान एक रेशमी मुलायम चमक ने ले लिया। उसने शंपू से सर 'धोना शुरू कर दिया होगा, मैंने अनुमान लगाया था। वह धीरे-धीरे युवती में बदल रही थी और चोटियों का स्थान लेने वाले जूड़े ने उसे वयस्कता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। पहले दिन जब उसने चूड़ीदार पहना तो हम लोग कुछ-कुछ स्तब्ध रह गये थे। अब उसकी शलवार-कमीज सूती नहीं रह गयी थी। चाहे दो जोड़ी ही सही, वह टैरीकाट पहनने लगी थी। उसमें एक अलग ही शोभा होती है। कपड़े का भी तो फर्क पड़ता है आखिर व्यक्तित्व बनाने में।

जिस साल उसने पहली बार साड़ी पहनी मैंने अपना पहला सूट सिलवाया था। वह साड़ी के हाथ जूड़े में "मैच" करता फूल लगाने लगी थी। मैंने टाई बांधना भी उसी साल सीखा—सूट से मैच करती या 'कंट्रास्ट' वाली टाई। अब जब भी कभी वह नहीं आती बस खाली-खाली लगने लगती थी। हम सभी एक-दूसरे से पूछते, 'क्या' बात है 'कल्लो' कहाँ है ?"

मैंने ही उसे कल्लो कहना शुरू किया था। उस दिन वह नीली साड़ी पहने थी। नीला ही जरी की बाजू वाला ब्लाउज। उसके चौड़े सांवले माथे पर ठीक बीचों-बीच एक नीला चांद जमा था। पूर्णमासी का-सा संपूर्ण। मैं दहल गया था। और उसी दिन मैंने यह भी जाना था कि टीका भी नीला हो सकता है।

हो सकता है भ्रम भी हो रहा हो, उन्हीं दिनों मैंने देखा था वह अपनी तारतम्यता में कनखियों से कभी देख भी लेती है। बीच-बीच में शायद मुस्कराती भी हो। ऐसा होने लगा था कि मैं अक्सर सीट छोड़कर ऐसी जगह खड़ा हो जाता जहाँ से उस ध्यान मग्न, बड़ा-सा टीका लगाने वाली योगिनी को देख सकूं। एक के बाद एक आयाम मेरे आगे खुल रहे थे। पहले उसके खुरदरे हाथों की अँगुलियों के नाखून रंगे थे, फिर पैरों के। धीरे-धीरे उसके हाथ-पैरों का खुरदरापन घटता गया था और बाद में तो उसके पैरों तक के पंजे सस्ती रेक्सीन की सैंडिलों तक में बहुत खूबसूरत लगने लगे थे। बिना किसी बिवाई के, कोमल और स्वच्छ।

मुझे कहना चाहिए था, उसी दिन, जिस दिन वह नीली साड़ी और नीली बिंदी लगाये थी। उस दिन उसने सिर्फ देखा भर नहीं था कनखियों से, बल्कि वह एक बार ऊन के गोले के फुदक जाने पर खिलखिलायी भी थी। फुदकना ऐसी कौन-सी हँसी की बात है ! संभवत: उसे पता था। मैं नहीं जानता ऐसा कैसे हो सकता है कि कोई कल्लो नीले रंग की साड़ी और नीली ही बिंदी में इतनी खूबसूरत लगे।

सन् 1975 में मेरा विवाह हुआ था और मैं 77 की गर्मियों में चला गया। अब लौटा हूँ और फिर उसी मोहल्ले में अपने पुश्तैनी मकान में आ गया हूँ।

वह अभी भी बुन रही है। पर इस बुनने में योगियों की-सी वह एकाग्र चित्तता नहीं है। न उसके साँवले रंग में अब वह काँति। जैसे फोटो का रंग पहले पीला पड़ता है फिर उसकी चमक जाती रहती है और अंततः वे सारे रसायन जो समय को पकड़े होने का भ्रम बनाये हुए थे उखड़ने लगते हैं—यों। वह अब भी लड़की है पर ऐसी लड़की जो अपने बिना प्रेस किये ब्लाउज में औरत होने का अहसास भी कराती है। अब वह साड़ी ही पहनती है पर उसकी बिंदी गोल पूर्णमासी के चाँद-सी नहीं रही है। वह भोर के तारे-सी एकरंगी हो घटती जा रही है। वह मोटी नहीं हुई है पर उसके बाल कहीं-कहीं सफेद और जर्जर हो गये हैं। यह भी कोई तटस्थता है। बाल देखभाल माँगते हैं। इन्हें डाई करना होता है। शंपू करना पड़ता है। मैं एक हफ्ते से इसी के साथ आ-जा रहा हूँ, पर उसने एक बार भी मेरी ओर नहीं देखा है। कनखियों से भी नहीं।

इस बीच यहाँ घर की ओर से कई बसें चल पड़ी हैं, सेक्रेटेरियेट के लिए। लोग भी बढ़ गये हैं पर हम उसी समय के यात्री हैं, जो नौ बजकर कुछ मिनट पर शुरू होता है और दस बजते-बजते खत्म हो जाता है। शाम जो पाँच बजे शुरू होता है और मेरे स्टाप के आने तक खत्म हो जाता है। हम बस में नहीं, समय में यात्रा करते हैं। क्या मैं इतना बदल गया हूँ कि वह मुझे पहचान न रही हो। थोड़ा मोटा ही तो हुआ हूँ, थोड़े बाल पक रहे हैं, बस ! हाँ दो दाड़ें भी गिर गयी हैं पर मुँह के अंदर क्या हुआ है, कौन जानता है। थोड़े से मोटापे और दो-चार पके बालों के कारण ही कोई आपको सिर्फ छह साल के अंतराल पर ही पहचानने से इनकार कर सकता है ?

सम्भवतः अब वह कहीं देखती ही नहीं है। उसके होंठ पपड़ाये-से रहते हैं, पर ठण्ड में तो ऐसा हो ही जाता है। कुछ लगाना पड़ता है। उसके हाथ पहले से भी तेजी से चलने लगे हैं। अब तक आखिर वह बुन क्या रही है, मैं समझ नहीं पाता हूँ।

मेरी ओर देखना होगा ! मैं इतने साल बाद फिर इस शहर में लौटा हूँ। तुम्हारे शहर में। क्या हाल है ? इतना तो पूछा ही जा सकता है ! हम पाँच साल सहयात्री रहे हैं और पाँच साल कम नहीं होते।

बस खाली होने लगी है। समय की आज की यात्रा खत्म हो रही है। बस तीन स्टाप और हैं। वह मेरे बाद उतरेगी, सम्भवतः अन्तिम स्टाप पर। अजीब बात है वह शुरू से आखिरी स्टाप तक की यात्रा करती आ रही है, मैं बाद में चढ़ता हूँ और पहले उतर जाता हूँ। मेरा घर, मेरा दफ्तर उससे पहले हैं।

मैं खँखारता हूँ।

वह बुनती रहती है। बाहर के उन्हीं रास्तों की ओर देखती, जिन्हें हम 1972 से देखते आ रहे हैं।

"क्या बुन रही हैं ?"

वह चुप रहती है। उसकी पलकें हौले-से काँपती हैं, किसी अंदेशे में।

"क्या बुन रही हैं ?" मैं दोहराता हूँ।

पहली बार उसकी आँखें शून्य से बाहर आती हैं। मैं धक्क रह जाता हूँ। उसके माथे पर सलवटें बनने लगी हैं और पूरे चेहरे पर एक जाला बढ़ रहा है, समय की मकड़ी का, हल्का झीना पर अब यह उतना अदृश्य भी नहीं है कि पता ही न चले। उसका रंग लगभग स्याह हो गया है। यह तो साँवली थी। हो सकता है सर्दियों की तेजी से बढ़ी आ रही साँझ के कारण लगता हो। देखिए ना, आजकल बत्तियाँ कितनी जल्दी जल उठती हैं। इस ड्राइवर साले को अन्दर की बत्तियाँ जलानी चाहिए, इतने अँधेरे में आखिर कोई कैसे बैठ सकता है ? पर ये लोग यात्रियों को तो जैसे आदमी समझते ही नहीं। नहीं, यह अब भी साँवली ही है। इतनी काली तो हर्गिज नहीं ही है। सुबह फिर देखूँगा, ध्यान से।

"वेल !" फिर कुछ रुककर उसने पूछा, "आप···?"

और एक शब्द पूरा एक अन्तहीन सवाल हो गया है जिसके उत्तर के लिए पूरा एक महाभारत लिखा जा सकता है। मेरा अपना महाभारत जो मैंने कई-कई मोर्चों पर कई-कई रूपों में लड़ा है। पर पात्र तो पात्र ही होता है। मुझे लगता है मेरे जबड़े स्वयं ही कसते जा रहे हैं और मुट्ठियाँ पसीज रही हैं। पर समय और अनुभव बहुत कुछ सिखा देता है।

"अब तो बहुत बड़ी हो गयी होगी ?" मैंने उसके प्रश्न को काटते हुए मुस्कराने की कोशिश की है, अनुभव के कांइयापन से।

"कौन ? उमा ?" उसने चौंककर पूछा। "नहीं !" उसने चैन की साँस ली, "उसकी तो शादी हो गयी है।"

"नहीं !" किस उमा की बात कर रही है, मुझे नहीं मालूम। "मैं बेल की बात कर रहा था !" मैंने स्पष्ट किया।

"ओह !" उसने एक पल को पलकें मूंदी, "नहीं," फिर स्पष्ट किया, "मैं छोटी-छोटी बेलें बुनती रही हूँ।"

अभी भी एक स्टाप बाकी था।

"आप···?"

उसने फिर कोशिश की अपना उत्तर पाने की। इसलिए मैंने उठते हुए भी उसके प्रश्न को प्रश्न से काटा, "पर इतनी बेलें···?"

उसने कुछ कहा था, "चाहें तो आपके हिस्से की बेल···" या ऐसा ही कुछ, जो मैं ठीक से नहीं सुन सका हूँ। मेरा स्टाप आ गया है। वैसे भी गेयर बदलती गाड़ी के इंजन की घरंघराहट और ब्रेकों की चीख में सुना भी क्या जा सकता है ! इसलिए बहुत सम्भव है, उसने कुछ भी न पूछा हो। वह सदा से बोलती भी तो बहुत कम है।

(1985)

मुवक्किल बनाने के।

"ऐसा करना," माँ ने अपनी धीमी पर स्थिर आवाज में कहा, "पूरे नौ दिन के पाठ का इन्तजाम करना।"

"किसका पाठ करवाना है ?"

माँ ने एक बार तो कुछ असमंजस में मेरी ओर देखा फिर वह समझ गयी, बोली, "मेरे विचार से तो दोनों ही करा दें।"

"पर···" मैं कुछ अटका फिर मैंने कह ही दिया दिया, "पर ऐसा न हो कि दोनों पाठ एक साथ न होते हों।"

माँ कुछ देर मौन रही, दुविधा में सोचती फिर बोली, "इसमें कुछ दोष तो नहीं होता होगा।"

मैं थोड़ा मुस्कराया, एक असहाय-सी मुस्कराहट।

"पूजा ही तो है, क्या दोष होता होगा ! तू दोनों ही करवा दे। वैसे पण्डित बतला देगा।"

"बाबू हर साल क्या करवाते हैं ?" मैंने पूछा।

मेरे सवाल ने माँ को एकदम हतप्रभ-सा कर दिया। किसी तरह माँ ने स्वयं को नियन्त्रित किया और रुक-रुक कर बोली, "अब इस समय तो मुझे कुछ ठीक से याद नहीं पड़ रहा है।"

मैं चुप हो गया। एक हद तक यह सम्भव भी है कि माँ को कुछ याद ही न हो। जिस मानसिक स्थिति से वह गुजर रही थी उसमें कुछ भी याद न आना कोई बड़ी बात नहीं। पर यह सच था कि माँ को कभी भी पूजा-पाठ ने आकर्षित नहीं किया था और वह बाबू के साथ के चालीस वर्षों के दाम्पत्य-जीवन के बावजूद अपने को बदल नहीं पायी थी। वह आज भी एक किसान की ही बेटी थी, जिसके लिए त्योहारों से अधिक महत्वपूर्ण मौसम का बदलना था। मेरा दिल भर आया। एक असीम दृढ़ व्यक्तित्व वाली महिला ने किस तरह अपना जीवन एक ऐसे माहौल में बिताया था जो उसके स्वभाव से जरा भी मेल नहीं खाता था। तो क्या माँ अपने जीवन पर— क्या इसे व्यर्थ गये कह सकते हैं—कभी इस रूप में सोचती होगी ?

अगले दिन कमला आ गयी। और उसने पूजा का झंझट संभाल लिया। इस पर भी माँ ने मुझे चकित कर दिया। जितनी बारीकी और सहजता से उसने पूजा की, शायद बाबू भी क्या करते होंगे। पहले दिन नववर्ष मनाया गया। माँ ने पण्डित जी से पूरे वर्ष का भविष्य पढ़वाया। फिर बाबू का भविष्य पढ़ा गया, जिसे हम सब लोग साँस रोक कर सुनते रहे। हो सकता है शायद ज्योतिष ही सही सिद्ध हो जाये। आखिर ज्योतिष कोई कोरी गप्प तो नहीं है, आखिर हमारे पूर्वज इतने मूर्ख तो नहीं थे। इतने सारे लोग, इतने सालों से, कोई यों ही तो इस पर विश्वास नहीं करते चले आ रहे हैं?

आदमी की सबसे बड़ी चिन्ता क्या है? सम्भवतः अपने भविष्य को जानने की। भविष्य का दूसरा नाम नियति भी है। अक्सर अपनी अनुमानित नियति के यथार्थ से बचने के लिए भी हम इसका प्रयोग करते हैं। दीवार पर लिखी अपनी नियति की कठोरता को झुठलाने के लिए भी हम इस विद्या का सहारा लेते हैं। यह मेरी समझ में उस समय नहीं आ रहा था। कहावत है न कि उम्मीद का ही दूसरा नाम जिन्दगी है, इसलिए भी उम्मीद करने में कोई बुराई नहीं थी। मेरी बात छोड़ो। मैं यह अनुमान नहीं लगा पा रहा था कि पण्डित रामदत्त जोशी का पतरा सम्बत्सर 2042, बहुधान्य वर्ष का जो भविष्य बतला रहा था, माँ पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हो रही होगी। हम लोगों ने बीच-बीच में कई बार माँ को कनखियों से देखा। माँ के चेहरे से कुछ अनुमान लगा पाने की आशा में, पर हम या कम-से-कम मैं सफल नहीं हुआ। माँ का चेहरा उतना ही निरपेक्ष था जितना वह सत्यनारायण की कथा या विष्णु सहस्रनाम अथवा चण्डी पाठ के समय हुआ करता था। माँ, मुझे याद है, उन्हें मजबूरी में सुना अवश्य करती थी पर अपने चेहरे पर कभी भी यह एहसास नहीं आने देती थी कि वह सुनना नहीं चाहती। पर सदा उसका ध्यान कहीं और होता और अक्सर ही बीच-बीच में वह हम बच्चों को हिदायत दिया करती, जा, जरा दाल देखना तो या कभी कहती देखना आग तो नहीं बुझ गयी, जरा एक लकड़ी लगा या दूध का ध्यान रखना, चला न जाये आदि। पर वह यह सब बातें इस सफाई से कहती कि बाबू को आभास

तक नहीं हो पाता कि इसका ध्यान कहीं और है। माँ का चेहरा आज भी वैसा ही था। इससे हम दो अनुमान लगा सकते थे—एक तो यह कि माँ का ध्यान इस समय भी कहीं और था यानी बावू पर ही लगा हुआ था। दूसरा, वह मान रही है कि सब सामान्य है और चूँकि बावू इस बार यह सब नहीं कर पा रहे हैं, इसलिए वह कर दे रही है। दूसरी बात से मुझे थोड़ी शान्ति हुई।

शाम को माँ ने कहा, "लड़कियों को भिटौली देनी है। तू ऐसा करना दोनों के लिए एक-एक साड़ी ले आना।"

"मेरे पास पैसे हैं, बाद में जरूरत होगी तो तुझसे ले लूँगा," मैंने कहा; पर वह नहीं मानी, "नहीं, यह तेरे बावू के पैसे हैं, इन्हीं से लानी है।"

लगा माँ यह नहीं चाहती कि सरिता यह कहे कि सास अपनी बेटियों को साड़ियाँ दिलवा रही है। मुझे बुरा लगा, माँ सरिता से इतना डरती है क्या? दिल हुआ माँ से पूछ लूँ, पर माँ की सहजता और गम्भीरता को देखते हुए हिम्मत नहीं हुई। हो सकता है, फिर मैंने अपने दिल को समझाया कि यह सब बावू की ओर से ही होता हो। वैसे भी मैंने उमा को दिल्ली में होने के बावजूद कभी भिटौली नहीं भेजी थी। ना ही मुझसे किसी ने कहा ही था। मैं तो यह भी नहीं जानता कि माँ कभी भिटौली भिजवाती भी है या नहीं। पर बाद में, उमा ने बतलाया कि माँ हर साल उसे भिटौली पर नकद पैसे भिजवाया करती थी, बस। जहाँ तक कमला का सवाल था, उसकी भिटौली बनती ही नहीं थी। वह तो सिर्फ विवाहित लड़कियों को ही दी जाती है। पर माँ का कहना था कि अब चूँकि कमला भी दूर रहती है, इसलिए उसे भी ससुराल गया ही मानो।

"बम्बई में है इसकी ससुराल ?" मैंने माँ से मजाक किया।

माँ भी थोड़ा मुस्करायी।

"ठीक ही है," मैंने फिर कहा ? "आखिर इसने विज्ञान से तो विवाह कर ही लिया है। इसे भी कुछ मिलना ही चाहिए।"

गोकि हम बीच-बीच में माँ से मजाक कर लेते थे पर घर के सारे वातावरण में उदासी और गम्भीरता इस कदर बैठ गई थी, जैसे पहाड़ों में जाड़ों में बादल छा जाते हैं। यहाँ तक कि बच्चे भी फुसफुसाकर बोलने लगे

थे, जबकि उनसे शायद ही किसी ने कुछ कहा हो। माँ ने जो भी बतलाया था हम ले आये थे—फुंदने, चूड़ियाँ, साड़ी, मिठाई आदि।

पूरी नवरात्री के दौरान लगने लगा था कि बाबू की तबियत में अब निश्चित सुधार है। अन्ततः मानो पूजा ही असर कर रही हो। नवमी के दिन दुर्गा का आखिरी पाठ किया गया और माँ ने बहुत ही विस्तार से कन्या जिमाई। पर जब हम शाम को अस्पताल पहुँचे, स्थिति बिल्कुल बदल चुकी थी। बाबू को 'इंट्रावेनस ग्लूकोज' दिया जा रहा था। वह हौले-हौले कराह रहे थे। दो दिन की दाढ़ी वाले चेहरे को पीड़ा ने विकृत कर दिया था। वैसे भी 'किमो थैरेपी' ने उन्हें सुखा दिया था और उनके घुंघराले बाल देखते-देखते झड़कर ताल में बदल गए थे। कमला ने कई बार उनसे बात करने की कोशिश की, पर उन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। वह किसी को पहचान नहीं पा रहे थे। सम्भवतः उन्हें कोई 'पेनकिलर इंजेक्शन' लगाया हुआ था। मुझे आश्चर्य हुआ, माँ जब सुबह अस्पताल से आयी थी तो उसने इस बारे में कुछ क्यों नहीं बतलाया? क्या माँ बाबू की बिगड़ती हालत नहीं पहचान सकी थी या दिन-ही-दिन में हालत इतनी बिगड़ गयी थी? यह सही है माँ सारी पूजा के दौरान अन्यमनस्क-सी रही थी। अन्यथा उसके व्यवहार से किसी गम्भीर घटना का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता था। उसने बच्चों को दो-दो रुपये दिये और सब के सर पर ऐसे हाथ फेरा था जैसे कोई दुआ माँगता है और तब जाकर मुझसे बहुत सामान्य तरीके से कहा, "डाक्टर तुझे याद कर रहा था।"

डाक्टर के सन्देश ने मुझे तभी बेचैन कर दिया था, इस पर भी मैं यह नहीं पूछ पाया कि खैरियत तो है? वैसे भी माँ के चेहरे पर उस समय किसी तरह की घबराहट या बेचैनी नहीं थी। नहीं, पर ऐसा नहीं हो सकता कि बाबू की बिगड़ती हालत माँ से छिपी रह गयी हो। सच तो यह है कि वह बाबू में होने वाले सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परिवर्तन को भी, डाक्टरों से पहले पहचान लेती थी।

ड्यूटी पर जो हाउस-सर्जन था देखते ही बोला, "आपको डा० बक्शी ने फौरन मिलने को कहा है।"

डा० बक्शी हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे, "कहाँ थे आप, मैं आपको

सुबह से ढूंढ़ रहा हूँ," उन्होंने बिना किसी भूमिका के कहना शुरू कर दिया, "डोनर्स का इन्तजाम कर लीजिएगा।"

"क्या जीभ में ही फैला है फिर से, डाक्टर साहब ?" मैंने बेचैन हो पूछा। डाक्टर ने एक मिनट मेरा मुँह देखा फिर बोला, " 'टोटल ग्लासैक्टॉमी' तो होगी ही, गले की भी कुछ 'लिफनाड्स' निकालनी होंगी।"

यानि बाबू की रही-सही जीभ भी नहीं रहने वाली थी। मेरा दिल खराब हो गया। एक अजीब-सी घबराहट ने मुझे घेर लिया था।

कमला ने कुछ देर बाद बड़ी मुश्किल से पूछा, "पर यह हुआ कैसे, डाक्टर साहब ? कल तक तो वह बिल्कुल ठीक थे।"

डाक्टर एक असहाय मुस्कान के बाद बोला, "देखिये बहन जी, यही तो हम नहीं जानते, अगर यही पता चल जाता तो फिर बीमारी का इलाज ही न हो जाता।"

सम्भवत: कई चीजों का कोई जवाब नहीं है, विज्ञान के पास भी। उन्हें सिर्फ स्वीकार करना पड़ता है। अन्तर यह है कि व्यक्तिगत जिन्दगी में जहाँ आदमी हार मान लेता है, उसकी यही हार सामूहिक रूप में पूरे मानव-समाज के सामने एक चुनौती का रूप धारण कर लेती है।

जब हम डाक्टर से मिलकर लौटे माँ झुकी हुई बाबू से कुछ बात करने का प्रयत्न कर रही थी। वह हमारे बाद आयी थी। सम्भव है बेहोशी में वह कुछ बड़बड़ाये होंगे जिसे माँ समझने में लगी हुई थीं। बाबू की कराह बढ़ गयी थी। वह कभी-कभी गर्दन भी पटकने लगे थे। शायद इन्जेक्शन का असर कम हो रहा था। मैं वापस डाक्टर के पास गया। उसने आकर एक बार सरसरी नजर से बाबू को देखा और अपने आप से कुछ कहता हुआ चला गया। थोड़ी देर बाद नर्स ने फिर से इन्जेक्शन लगाया। उस रात हम लोग भी माँ के साथ अस्पताल ही रहे।

ऊपरी तौर पर अनुमान लगा पाना कठिन हो, पर स्पष्ट था कि माँ ने परिस्थिति से समझौता कर लिया है। इसके अलावा रास्ता भी क्या था। यथार्थ का ज्ञान यदि एक सीमा तक स्थिति का सामना करने में मदद करता है, तो दूसरी ओर हमारी सीमा का भी भान करा देता है और

इस तरह एक तटस्थता से भर देता है, जिसे दार्शनिक दृष्टिकोण भी कह सकते हैं। इतने लम्बे और भव्य जीवन का खेल सिर्फ आठ महीनों में इतना अधिक त्रासद और दारुण हो चुका था कि स्वयं मैं कई बार मन-ही-मन प्रार्थना करने को मजबूर हुआ था। व्यर्थ में दुःख झेलते जाना कौन-सी बुद्धिमत्ता है, मैंने कई बार अपने से तर्क किया है। आखिर एक व्यक्ति के जीवन को कब तक खींचा जा सकता है ? मनुष्य क्या है ? प्रकृति की इस व्यवस्था की एक छोटी इकाई ही तो ना ? हो सकता है यह इकाई अन्य की तुलना में कहीं अधिक जोरदार हो और महत्वपूर्ण भी, पर है तो इकाई ही, जिसका अपना एक निश्चित उद्देश्य और नियत समय है। क्या यह यथार्थ नहीं है कि अपने जीवन के लिए निर्धारित भूमिका तय कर लेने के बाद हम सब निरर्थक हो जाते हैं ? बाकी सब तो बहाना मात्र है।

शुरुआत में वह एक सफेद तिल से थोड़ा बड़ा-सा था। खुद माँ ने ही एक दिन सुबह-सुबह बाबू से पूछा, "अरे ! तुम्हारी जबान में यह क्या हो रहा है ?"

बाबू ने जीभ को दाँत पर घिसते हुए कहा, "न जाने क्या है ?" और वह चाय पीने लगे थे।

"दर्द तो नहीं है ?" माँ ने फिर पूछा था।

"नहीं दर्द नहीं है ? ठीक हो जायेगा।"

माँ को भी थोड़ा सन्तोष हो गया कि चलो दर्द नहीं है। माँ बाद में कहा करती, मुझे क्या पता था कि दर्द का न होना इतना खतरनाक होता है।

दाग जल्दी ही बढ़ा। फिर दर्द भी रहने लगा। जब बाबू को खाना खाने में मुश्किल होने लगी तब कहीं वह डाक्टर के पास गये और डाक्टर ने 'बॉयोपसी' के बाद उन्हें फौरन यहाँ भेज दिया था। उसके बाद चला अस्पतालों का सिलसिला। आते ही न जाने कितने किस्म के टैस्ट किये गये—एच० बी०, टी० सी०, डी० सी०, बी० टी०, सी० टी०, डब्ल्यू० आर० और ई० एस० आर०। असल में डाक्टर अपनी खाना-पूरी कर रहे थे। एक दिन उन्होंने वही कहा, जिसकी आशंका में हम इतने दिन से त्रस्त थे। साथ ही उन्होंने फौरन ऑपरेशन भी सुझा दिया और आधी जीभ

निकाल दी। इस तरह बाबू बिना जीभ के आठ महीनों से खींच रहे हैं। ऑपरेशन के बाद, जैसा कि डाक्टरों ने कहा था, वह लगभग ठीक हो गये।

सफल आपरेशन के बाद भी एक दूसरे ही बाबू सामने थे—असहाय और बिना आवाज। वह कुछ कहना चाहते, हम कुछ समझते थे। माँ को बाबू की नयी भाषा समझने में एकाध दिन से ज्यादा नहीं लगा। संभवतः माँ भाषा की जगह बाबू की जरूरतों को इतनी अच्छी तरह समझती थी कि उसे अनुमान लगाते देर नहीं लगती कि कब उन्हें क्या चाहिए।

कुछ दिन में ही बाबू घर जाने की रट लगाने लगे। यहाँ, दिल्ली में, उन्हें घुटन महसूस होती थी, पर इस बार वह और भी अधिक बेचैन हो उठे थे : अपने मकान और कस्बे को देखने के लिए संभवतः उनमें डर बैठ गया था कि अगर उन्होंने देर की तो वह अपने घर और शहर को फिर नहीं देख पायेंगे।

चले तो वह गये पर लौटे जल्दी ही, लगभग तीन महीने में ही। वैसे भी अब वहाँ बाबू को कोई न कोई संकट घेरे रहता था और माँ को इन सबसे अकेले निपटना काफी मुश्किल पड़ता था।

इसके साथ ही फिर से खून देने का सिलसिला चला। टैस्ट पर टैस्ट हो रहे थे और एक बार फिर वही त्रासद् प्रक्रिया शुरू हो गयी थी।

सारी रात दर्द से बाबू इस तरह छटपटाते रहे, जैसे कोई मूक जानवर। दो-दो, तीन-तीन घंटे बाद उन्हें पैथेडीन दिया जाता रहा। आपरेशन सुबह नौ बजे ही शुरू हो जाना था और संभवतः ज्यादा चलना नहीं था। रात बिना किसी झंझट के कट चुकी थी। निश्चित रूप से माँ थक गयी थी पर घर जाने का सवाल ही नहीं था। इस तरह के किसी सुझाव से भी उसे जो क्लेश होता वह उस थकान से कहीं अधिक घातक था, जो माँ को रात भर न सो पाने से हो रहा था। वैसे भी आपरेशन के निपट जाने के बाद वह ज्यादा निश्चिन्त होकर घर जा सकती थी और कुछ देर आराम भी कर सकती थी। पर न जाने क्यों ठीक आपरेशन से पहले डाक्टरों ने बाबू की एक बार जाँच की और थोड़ी देर बाद हमें बतलाया

कर रही है ? वह लेटी-लेटी कोई किताब देख रही थी।

"माँ," मैंने हौले से कहा ! वह इतनी तन्मय थी कि उसे आभास ही नहीं हुआ कि कमरे में कोई आ गया है।

"माँ," जब मैंने थोड़ा जोर से पुकारा तब कहीं वह हड़बड़ाई और उठकर बैठ गयी।

"सोयी नहीं," मैंने हाथ से उसे लेटे रहने का इशारा किया।

"सोयी थी थोड़ा," उसने मेरा मन रखने के लिए कह दिया।

"क्या देख रही थी ?" मैंने मुस्कराने की कोशिश की।

"यों ही, बच्चों की पुरानी किताब थी।"

बिस्तर पर पड़ी किताब पर मेरी नजर स्वत: ही अटक गयी। दूसरी कक्षा की एक बहुत ही फटी किताब थी। समझ में नहीं आया कि माँ के हाथ यह कहाँ से लगी होगी। बेबी की किताब होने का सवाल ही नहीं था, वह छटी कक्षा में है। हो सकता है टिकू की पिछले साल वाली कोई किताब हो, अब तो वह भी तीसरी में है।

सभवत: माँ को कभी अक्षर-ज्ञान रहा होगा, पर मेरी याददाश्त में माँ कभी पढ़-लिख नहीं पाती थी। जिस जमाने में वह पैदा हुई थी, आज से साठ-पैंसठ साल पहले, उस जमाने में पढ़ायी का चलन था ही कहाँ। फिर माँ आयी भी गाँव से थी, वह भी पहाड़ी गाँव से, जहाँ आज भी मीलों पैदल जाना पड़ता है। बाबू ने शुरू में माँ को पढ़ाने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया था, पर कहा जाता है, माँ ने अक्षर-ज्ञान के आगे कुछ भी सीखने से इनकार कर दिया। यह तो मुझे भी याद है कि जब कभी बाबू माँ पर बिगड़ते, यह कहते नहीं चूकते थे कि हुड्ड-गंवार न जाने कहाँ से गले पड़ गयी। मैं जब थोड़ा बड़ा हुआ तो मुझे माँ का यह अपमान बहुत अखरता था। जब कभी भी मैंने माँ से कहा था, माँ तुझे मैं एक हफ्ते में पढ़ना-लिखना सिखा दूंगा तो माँ हँसते हुए कहती, अरे छोड़ तू कहाँ लगेगा मेरे पीछे। और मौके के अनुसार जा पढ़ या जा खेल कह देती। अजीब बात थी कि बाबू जी का कहा माँ कभी गम्भीरता से नहीं लेती थी। बल्कि साफ कहती, अरे बकने दे, बकने वाले का मुँह कौन पकड़ सकता है। यह वह सिर्फ तब कहती जब बहुत गुस्से में होती। देखा

जाए तो बाबू के कहने में कभी कोई गंभीरता होती हो इस पर मुझे बाद में शक होने लगा था। सच यह था कि माँ को कोसने का बाबू का यह एक बहाना था ! चूंकि कुछ बोलना होता था वह बोल देते थे। बाद में मेरी समझ में आया कि जब माँ मुझसे कहती, तू कहाँ मेरे पीछे लगेगा, तो एक सीमा तक इसका तात्पर्य यह होता था कि तेरा बाप तो हार गया, अब तू ही क्या कर लेगा। यह बात न तो अपने ठेठ हुड्ड-गँवारपन की अजेयता की महानता दर्शाने के लिए कहती थीं और न ही मुझे छोटा सिद्ध करने के लिए। बल्कि यह वह बाबू के ही बड़प्पन को सिद्ध करने के लिए कहती थी। यानी जो काम बाबू नहीं कर सके और कौन कर सकता है, वाला अंदाज रहता। और एक तरह से वह मुझसे बढ़कर बाबू को छोटा नहीं सिद्ध करना चाहती थी। पर माँ ने इस कमी को दूसरी तरह से पूरा किया था।

रही है और कभी कहती खीस ले आया है। मैंने एक दिन, इस झिकझिक से तंग आकर माँ से कहा, माँ गाय पाल लेते हैं। मेरी बात का उमा और कमला दोनों ने समर्थन भी किया। माँ बोली, "अरे गाय पालना कोई आसान काम है, उसे देखेगा कौन ?"

"हम देखेंगे," हम सबने मिलकर कहा। वैसे भी हम काफी बड़े हो चुके थे। मैं उन दिनों ग्यारहवीं में था और उमा आठवीं में, यहाँ तक कि कमला भी छठी में आ चुकी थी। निश्चित रूप से हम माँ का हाथ बँटाने की स्थिति में थे।

"तुम नहीं जानते, जानवर का कितना काम होता है। एक आदमी से भी ज्यादा काम होता है। गाय पालना मखौल नहीं है।" और उसने हमारी बात टाल दी।

उस समय तो हम लोग चुप हो गये थे कि भइ होता होगा, बड़ा कठिन काम जानवर पालना। पर आज मुझे यह बात आश्चर्यजनक लगती है। जब हम लोग बच्चे थे तब माँ ने गाय पाल रखी थी, कि गाय, बच्चे वाले घर के लिए जरूरी है और जब हम हाथ बँटाने वाले हो गये तो माँ के लिए गाय पालना कठिन काम हो गया था। तो क्या माँ थक गयी थी गाय पालने से ? असल में बात यह थी कि माँ नहीं चाहती थी कि हम लोग अपना समय गाय-वाय के चक्करों में खराब करें—यह बात मेरे बहुत देर में समझ में आयी।

बात उस दिन की हो रही थी। बाबू ने कप ही नहीं फेंका उसके साथ ही उमा को जो डाँटना शुरू किया, यही नहीं कि वह रुका ही नहीं, बल्कि मुड़कर, बाबू के प्रिय विषय, माँ पर आ गया कि हुड्ड गँवार माँ की बेटियाँ क्या बनेंगी आदि-आदि। जब माँ आयी उस समय तक उनका गुब्बार कुछ थम गया था। बाबू ने मेरा भी मूड खराब कर दिया था और फिर जिस तरह से उन्होंने उमा को लताड़ा था हममें से कोई भी उसको सहन नहीं कर सकता था।

देहरी में पैर रखते ही सबसे पहले माँ मुझसे ही टकरायी, "तू गया नहीं ?"

मैं चुप रहा।

"क्या बात है ? लड़ायी हुई उमा से ?"

"नहीं ?" मेरे और उमा के बीच उन दिनों खूब युद्ध हुआ करता था, इसलिए मुझे बोलना पड़ा।

"तबियत तो ठीक है ना ?" माँ की बेचैनी बढ़ती जा रही थी।

"ऐसे ही आज तबियत नहीं थी ?" मैंने माँ को टाल दिया।

बाबू अभी भी चुप थे, शायद स्थिति का जायजा ले रहे थे। हम भाई-बहनों की एकता से भी वह थोड़ा घबरा गये लगते थे।

उमा अंदर रो रही थी। "क्या हुआ री ?" माँ ने बहुत ही बेचैन स्वर में पूछा। वह बताने की जगह और जोर से रोने लगी।

जब वह बड़ी देर कुछ नहीं बोली और न ही कमला ने कुछ बतलाया तो बाबू से नहीं रहा गया। वह अखबार लिए खुद ही अन्दर जाकर बोले, "मैं बतलाता हूँ। होना क्या था। तुम्हरी लाडली से चाय बनाने को कहने की गलती कर दी। चाय के नाम पर जो बनाया कोई मुंह में नहीं रख सकता। इतनी बड़ी हो गयी है, लड़की की जात है, कुछ सीखेगी भी या नहीं ?"

उसके बाद जो हुआ वह मैंने अपनी जिन्दगी में पहली और आखिरी बार देखा। माँ किसी बाघ की तरह झपटी, "लड़की की जात है तो क्या उसने ठेका ले रखा है चाय बनाने और खाना बनाना सीखने का ? यह लड़कियों की जिम्मेवारी है कि जानें घर के मर्द किस तरह की चाय पीते हैं, किस तरह का खाना खाते हैं ? तुमने कभी अपने बेटे से भी कहा कि चाय बना ? कौन बड़ा है इन दोनों में ? यह औरत का काम है न कि वह खाना बनाना भी जाने और बच्चे पालना भी। फिर अगर आदमी दो-चार अक्षर पढ़ा लिखा है तो उसे भी पढ़ना-लिखना आना चाहिए, क्यों ? वरना तो वह हुड्ड-गंवार है। खबरदार, जो मेरी बेटी से भविष्य में कभी कुछ कहा। मैं जनम भर तुम्हारी गुलामी करती आयी हूँ, क्या यह काफी नहीं है ?"

बाबू के लिए यह जरूरत से कुछ ज्यादा ही साबित हुआ था। मेरे लिए यह आश्चर्य जनक था, क्योंकि माँ लड़ने वाली औरत क ही नहीं। वह सदा से ही बाबू की बहुत इज्जत करती थी। व

बोलते तो भी वह कभी कोई जवाब नहीं देती थी। फिर वह बाबू की पढ़ायी और ज्ञान का ऐसा लोहा मानती थी कि बचपन में हमसे कहा करती थी पूरी बिरादरी में तुम्हारे बाबू जितना पढ़ा-आदमी आज भी नहीं है। उसने ऐसा कैसे कह दिया, यह आज तक मेरी समझ में नहीं आ पाया है। क्या अपने अनपढ़ होने का एहसास माँ को सदा इतना सालता रहा था या पढ़ा-लिखा न होने के कारण होने वाला अपमान इसके मूल में था। कुछ भी हो, बाबू के लिए यह काफी गंभीर चेतावनी साबित हुआ। उसके बाद भविष्य में उन्होंने कभी न तो उमा को किसी काम के लिए कहा और न ही माँ को हुड्ड-गँवार। यहाँ तक कि नशे में भी वह इस बात को नहीं भूलते थे।

यह सही है कि माँ का सपना बेटियों ने पूरा किया था। पर माँ को अब संभवत: अपने पढ़े न होने की कमी महसूस होने लगी थी। बाबू के साथ लम्बी बातचीत कठिन होती जा रही थी। वह जो कहते उसे अक्षरश: समझ पाना असंभव था, इसलिए अक्सर वह अपनी बात समझाने के लिए लम्बे-लम्बे नोट लिखने लगे थे। और माँ इन्हें उलट-पलट कर असहाय देखती या किसी और से पढ़वाती थी। वह हर बात को, जो बाबू लिखते, जानना चाहती थी फिर चाहे उससे माँ का कुछ लेना-देना हो या न हो यह निश्चित हो चुका था कि यह कठिनाई कम नहीं होने वाली है, बढ़ भल जाए, इस लिए माँ की बेचैनी का बढ़ना भी लाजमी था।

मै घर क्यों आया था ? पर अब मेरी हिम्मत वह सब बतलाने की नहीं हो रही थी। मेरे दिमाग में कमला के साथ हुआ संवाद घूम रहा था।

"तुम डाक्टर बक्शी से मिले थे ?" कमला ने अस्पताल पहुँचते ही पूछा था।

"हूँ," मैंने कहा।

"क्या कह रहा है ?" उसने चिंतित स्वर में पूछा।

मैं अब भी चुप रहा।

"क्यों, क्या कह रहा था ?" उसके स्वर की बेचैनी अब एकदम स्पष्ट थी।

"उसका कहना है ?" मैंने रुक-रुक कर कहना शुरु किया, " उसका

कहना है अब आपरेशन का भी कोई फायदा नहीं है।"

"नहीं, नहीं मैं उन्हें बम्बई ले जाऊँगी। वहीं इलाज करवाऊँगी हाँ, टाटा इंस्टीयूट आफ कैंसर रिसर्च में मेरे एक कुलीग का भाई डाक्टर है। कैंसर का वहाँ से अच्छा इलाज सारे देश में और कहीं नहीं होता," और उसका गला रुँध गया।

मैंने बाबू की ओर देखा था। दर्द से उनका हड्डियाँ निकल आया चेहरा विकृत हो चुका था। उनकी अध-खुली आँखों की स्थिरता मेरे शरीर में अजीब-सी सिहरन पैदा कर रही थी। उनके दोनों होंठ बीच से खुले थे और उनमें से दर्द और बेहोशी की हालत में एक अजीब-सी घर्र-घराहट पैदा हो रही थी।

मेरी समझ में नहीं आ रहा था, कमला को कैसे समझाऊँ। बड़ी देर चुप रहने के बाद मैंने कह दिया, "डाक्टरों की सलाह है कि हम उन्हें घर ले जाएँ। मैं सोचता हूँ," मैंने कहा, "चूंकि वह अंत समय अपने ही शहर में रहना चाहते थे, हमें उन्हें वहीं ले जाना चाहिए, शायद उन्हें वही शान्ति मिले।"

"नहीं," वह रोने लगी। मौत की कल्पना मात्र से उसे दहशत हो रही थी, "मैं उन्हें नहीं मरने दूंगी, हमें कोशिश करनी चाहिए। तुम मुझे डाक्टर के पास ले चलो, मैं उस से पूछना चाहती हूँ।" और वह खुलकर रोने लगी।

"क्या पूछना चाहती हो? यही न कि क्या इन्हें बम्बई ले जाएँ? वह क्या कहेगा, तुम जानती ही हो।" थोड़े अंतराल के बाद मैंने उसे फिर समझाया, "डाक्टर का कहना है कि उनकी हालत तेजी से बिगड़ रही है और अगर हमने देर की तो फिर ले जा पाना भी संभव नहीं रहेगा। वैसे भी उनकी मिट्टी खराब करने से क्या लाभ! तू रोना बन्द कर, तुझे माँ को समझाना है। कल ही हम उन्हें ले जा रहे हैं।"

लेकिन कमला ने माँ को यह सब जा कर बतलाने से इनकार कर दिया। अंततः मैंने निर्णय किया कि मैं खुद ही जाऊँ और बाकी तैयारी भी करूँ।

मैंने न जाने कैसे, धीरे-धीरे डाक्टर की कही सारी बात माँ को समझा दी।

माँ की अँगुलियाँ उस पुरानी किताब को इस तरह टटोलने लगीं जैसे कोई अँधा चीजों को महसूस करने का प्रयत्न करता है—उनके आकार-प्रकार और रंगों को जानने के लिए ! मैं देर तक उसकी प्रतिक्रिया का इन्तजार करता रहा। वह कुछ नहीं बोली।

अचानक न जाने कहाँ से दौड़ती हुई बेबी कमरे में आयी। उसने "दादी," कहा और मुझे देखते ही बाकी बात तत्काल दबा ली।

बेबी के एक शब्द-मात्र ने माँ को सामान्य होने में मदद की। "आ," माँ ने उसे अपने पास पलंग पर बैठने का इशारा करते हुए कहा और पूछा, "खतम हो गया री तेरा काम ?"

"हाँ दादी, आज होम वर्क बिल्कुल थोड़ा-सा था, "बेबी ने प्रसन्न-चित्त बतलाया।

"मैंने भी तेरा काम कर लिया है," माँ जबरन मुस्करायी।

मैंने एक बार डरते हुए माँ को देखा, वह बेबी को देख रही थी यद्यपि उसके चेहरे पर अभी भी वही मुस्कराहट थी, उसकी आँखों में निराशा साँझ की तेजी से घिर रही थी। पर बेबी की आँखों में आश्चर्य की चमक थी, किसी रहस्य के अचानक उद्घाटित हो जाने की-सी। गोकि इस उद्घाटन से वह खुश थी, इस पर भी उसकी आवाज में झिझक थी, निश्चित न हो पाने की कि इसके पीछे वास्तविकता क्या हो सकती है ?

"देखो पापा," उसकी आँखों में दुविधा अभी भी झाँक रही थी, "दादी कितना अच्छा लिखती है," और वह माँ के झोले में कापी ढूंढ़ने लगी।

माँ अभी भी एकटक उसे देख रही थी। मुझे लगा मेरी टाँगें काँप रही हैं। कापी ढूंढ़ने में बेबी को काफी समय लग रहा था, मैं बाहर आ गया।

(1985)

खिड़की

'अंगारे' और 'लपटें' को तो आप जानते ही हैं। किस्सा 'लावा' का है।

"ऐसा कैसे हो सकता है ?" मन्त्री जी ने किस्सा सुनकर पूछा था।

"सर, ऐसा ही हुआ है।" गोपीचन्द गोयल, मालिक आदर्श मुद्रणालय ने अपने दोनों झुलसे हाथों को मन्त्री जी के सामने फैलाते हुए कहा था। "मैं बर्बाद हो गया हूं।" उसने रुंआंसा मुंह बनाया था और उसके बेटे ने जैसा कि उसे बतलाया गया था लालाजी की नाक साफ करने के बाद आंखें भी पोंछ दी थीं।

मन्त्री जी के दिमाग में गोपीचन्द गोयल के छह फर्मे के टाइप से भी कई गुना ज्यादा राष्ट्रीय महत्व की कई बातें घूम रही थीं। यह गांधी-जवाहर का देश है, सत्य अहिंसा का—वह सोच रहे थे, इसके भविष्य को ध्यान में रखना सर्वोपरि है। हम-- वह गांधीवादी परम्परा की देन थे—हम रहें न रहें, देश रहना चाहिए। अहिंसा परमो धर्मः।

पर यह सब गलत भी तो हो सकता है ! लाला गोपीचन्द की बद-माशी !

"तुम्हारा बेटा शादी-शुदा है ?" उन्होंने 18-19 साल के सफारी सूट पहने बेटे की ओर कुछ परखने वाले अन्दाज में देखते हुए पूछा।

"हां, सर ! आपके आशीर्वाद से एक पोता भी है।" लाला गोपीचन्द ने द्रवित होते हुए कहा। पोते के नाम से वह अक्सर गदगद हो उठते थे।

"बहू कहां है, तुम्हारी ?" मन्त्री जी ने कुछ कड़े स्वर में लड़के से पूछा। लड़का सफारी सूट के अन्दर गुम हो गया।

लालाजी को भी लगा उनकी आवाज बन्द हो रही है।

मन्त्री जी ने प्रश्न फिर उतनी ही कड़ाई से दुहराया।

"है सर!' इस बार लालाजी को मन्त्री जी की नीयत के बारे में अंदर उठती शंका सत्य जान पड़ी।

"अरे मैं पूछ रहा हूँ कहाँ है ?" मंत्री जी बिफर पड़े।

"ले आयें सर ?" लड़के ने घिघियाते हुए पूछा।

"ले कहाँ से आओगे ?" मन्त्री जी भड़के, "स्वर्ग से ?"

"नहीं, सर !" इस बार लालाजी बोले, "घर में है।"

अब मन्त्री जी ठंडे हुए। बाप-बेटे उनका मुँह ताकने लगे। मन्त्री जी की एक शंका का समाधान हो गया कि नहीं, मामला दहेज में बहू जलाने का नहीं है। तो क्या गोपीचन्द की बात सच है ? तहकीकात आवश्यक थी, क्योंकि देश के भविष्य का सवाल था।

"पर शब्द तो कुछ रेखाएँ या चिह्न होते हैं।" वह गंभीर हो गये।

"हाँ सर !" लालाजी की जान में जान आयी।

"फिर यह कैसे हुआ ? कुछ शब्दों के लिख देने मात्र से तो कुछ हो नहीं जाता।" मंत्री जी कोई वैसे ही संस्कृति मंत्रालय थोड़े ही देख रहे थे। उनकी तर्क-बुद्धि की धाक पर 'मार्निंग टाइम्स' के संपादक बिहारी लाल जैन ने प्रथम पृष्ठ पर एक संपादकीय तक लिखा था।

"सर ! मैं बतलाता हूँ।" गोपीचन्द जी का विश्वास इस बीच काफी हद तक लौट आया था।

"हूँ !" मन्त्री जी ने सिगनल दिया और चिंताकुल कुर्सी पर लधर गये।

"सर ! गलती की कंपोजीटरों ने। अगर वे चुपचाप कंपोज करे जाते तो ऐसा न होता। वे कम्पोज करे जावें थे गैलोंगैल पढ़े जावें थे। जब पेज बनने लगे तो हमारे फोरमैन ने पहली बार नोट किया सर कि पूरा मैटर गर्माया-सा लगै है। पर उसकी समझ में यो नहीं आया कि ऐसा हो क्यों रहा है। अगला फर्मा बनाते-बनाते तो सर उसके हाथों में फफोले पड़ गये। तीसरे फर्मे को तो हाथ लगाना ही भारी पड़ गया। बस, यूँ समझो सर कि किसी तरह हाथों में कपड़ा लपेट कर काम चलाया। चौथे और पाँचवे को बाँधने की तो नौबत ही न आयी। बस, इधर अक्षर जुड़ें, कविता

बने उधर कसम जानो सर कि लालसुरख अंगारा बन जावें। रात को मैंने अजी खुद अपनी आँखों से देखा कि प्रेस का वो कोना जहाँ यू कंपोज मैटर धरा था बस यूं समझो कि लाल बलब-सा जल रहा था जैसा वो होवे है न माताजी की जोत में जले है जो। बस, सर वैसा।" और, लालाजी का स्वर पूरी नाटकीयता के साथ द्रवित होने लगा था, "जैसे ही किताब की कंपोजिंग पूरी हुई," वह सुबके, "सब कुछ खाक हो गया, सर!" और फूट पड़े, "छह फर्मे का नया भरा टाइप बस, खाक हो गया।"

मन्त्री जी की सारी इन्द्रियाँ झनझना उठीं। ऐसी कविता जो सीसे को गला दे, वह गर्मी आदमियों से न जाने क्या करवाये—वह आगे सोच नहीं पाये। फिर भी, उन्होंने अपनी चिंता और बेचैनी को नियंत्रण में रखते हुए तहकीकात जारी रखी, "पर तुम्हारे हाथ कैसे जले?"

लालाजी के बेटे ने उनके झट से आंसू पोंछे।

उन्होंने आखिरी सुबकी ली और बोले, "सर, मैं यू देखकर ही दहल गया कि देखो मेरा सौ किलो बिल्कुल नया भरा टाइप गलकर पाणी-सा बह रहा है! बिल्कुल सपना लगे था जी, मैं यूं समझो बावला हो गया और सीसे को नंगे हाथों रोकने लगा।"

"तुमने पानी क्यों नही डाला?" मंत्री जी ने पूछा।

"बस यू गलती हो गयी।" लालाजी ने अफसोस में सिर हिलाया, "पर मैंने कहा न सर, कि सब देखते-देखते हो गया।"

उसके बाद काफी देर चुप्पी छायी रही।

"क्या नाम बतलाया तुमने?" मंत्रीजी की गंभीर आवाज ने चुप्पी तोड़ी।

"लावा! सर, लावा!"

"नहीं, कवि का?"

"सुमन्त श्रीवास्तव सर!" लालाजी ने जल्दी कहा।

"अच्छा ठीक है! तुम्हारे पास कुछ है?"

लालाजी और बेटा फिर से मन्त्री जी का मुँह देखने लगे।

"मेरा मतलब प्रार्थनापत्र वगैरह से है:" मंत्री जी ने मुस्कराते हुए स्पष्ट किया। ऐसी स्थितियों में उन्हें बड़ा आनन्द आता था: साला मुझे

घूसखोर समझ रहा है—वह अन्दर ही अन्दर ठट्ठाये थे।

"जी हाँ !" गोपीचन्द अपने बेटे की ओर मुड़ा था और बेटा अब तक बीड़ी नं० 518 के रेक्सीन के बैग की जंजीर खोल चुका था।

प्रार्थना पत्र को मन्त्रीजी के हवाले कर गोपीचन्द ने तीन-चार बार जापानी ढंग से उन्हें हाथ जोड़े।

"ठीक है !" मन्त्रीजी ने उसी के सामने प्रार्थनापत्र पर कुछ लिखते हुए कहा, "आप जा सकते हैं। देखते हैं, क्या किया जा सकता है।"

गोपीचन्द के जाते ही मन्त्रीजी ने सेक्रेटरी नागराजन आई. सी. एस. (आखिरी में से भी आखिरी) को बुलवाया और उनसे मंत्रणा की। नागराजन की ट्रेनिंग अंग्रेजों के हाथों हुई थी। वह पाइप पीते हुए बड़ी देर तक सोचते रहे फिर बोले, "वैल, ऑल रॉइट सर ! आइ विल हैंडल इट।"

मंत्री जी भी यही चाहते थे। नागराजन को केस सौंपकर वह निश्चित हो गये।

नागराजन का उपन्यास 'दि होलि सिटि' को पेंगुइन ने छापा था। यानि वह साहित्य को समझते थे। उन्होंने कई आदेश एक साथ दिये। पहला गोपीचन्द से सुमंत की पांडुलिपि मंगवायी, दूसरा गुप्तचर विभाग से सुमंत की फाइल और तीसरा उन्होंने ज्वाइंट सेक्रेटरी को बुलाकर तीन हजार रुपये की फैलोशिप शुरू करने के लिए फाइनेंस से तत्काल 'क्लियरेंस' लेने का निर्देश दिया।

सब आनन-फानन में हो गया। देश के भविष्य का जब सवाल हो तो फाइनेन्स भी क्या उखाड़ सकता था।

अब पाठकों को यह बतलाना जरूरी नहीं है कि फैलोशिप का क्या हुआ ? पर हाँ यह स्पष्टीकरण जरूरी है कि फाइनेंस ने जो राशि 'क्लीयर' की वह 36 हजार मात्र नहीं, एक लाख की थी, क्योंकि फैलो के लिए फर्निश्ड बंगला, शोफर समेत कार व ऊपरी खर्च-जिसमें घूमने, पीने और किताबों आदि की 'मिसलेनियस' मदें शामिल हैं, की भी व्यवस्था थी।

जैसा कि ऐसे में आम तौर पर होता रहा है और होता रहेगा, हिन्दी के कुछ मनचलों ने बड़ा तुफैल मचाया। सरकारी टुकड़ा ! सावधान !

खतरा है। वरिष्ठों ने आदतन इस अवसर को हाथ से न जाने दो, सोचकर घोड़े दौड़ाये, अपने-अपने क्षेत्र के जन प्रतिनिधियों से मन्त्री जी को फोन भी करवाया। कई ने रातों-रात नागराजन की किताब की समीक्षा, तो कई ने अनुवाद तैयार करा डाले, बल्कि छपा डाले। होनी पर हो के रही।

अच्छे लोगों से गंदगी को दूर रखने के लिए ही तो इस तरह की रिसैटलमैंट कालोनियाँ बनायी गयी थीं। बीस-बीस गज के प्लाटों पर बने ऊँचे-नीचे, बने-अध-बने-गिरे या पूरी तरह खड़े न हो सके मकाननुमा दड़वे, गिजाड़ू बच्चे का खेल से लग रहे थे। नालियाँ फफन कर गलियों में फैली हुई थीं। उन्हें क्या पता था कभी यहाँ भी आना पड़ेगा।

धूप तेज थी, जैसी बरसात में हुआ करती है। बन्द नालियों से उठती दुर्गंध की भभक, कार के बन्द शीशों को बेधती उनके नथुनों में जा घुसी। नागराजन ने इस तरह साँस रोकने का प्रयत्न किया, जैसे स्वीमिंग पूल में डुबकी ले रहे हों। नहीं-नहीं, गंदगी में कोई कैसे डुबकी ले सकता है! इस उपमा से तो उन्हें कै हो जायेगी, यों कहिए जैसे रात की रेल-यात्रा में वह सुबह किसी शहर आने से पहले मल-मूत्र की दुर्गंध की भभक से बचने के लिए शवासन कर लेते थे। पर आजकल वह हार्ट के हल्के-से पेशेंट होने के बावजूद जहाजों से ही आते-जाते हैं।

पर ये जगह कवियों के लिए नहीं थी—इस साले कवि को भी क्या सूझी होगी जो यहाँ आ बसा। उधर अपनी ओर कहीं कोई सरवेन्ट क्वार्टर में रह लेता इससे तो बेहतर ही रहता, उन्होंने सोचा।

खैर चलो, कभी-कभी यह भी देखना चाहिए, नहीं तो पता कैसे चलेगा कि देश में हो क्या रहा है। 'फॉर ए चेंज नॉट बैड,' उन्होंने सारे मामले को दार्शनिक पुट दिया।

कवि की गली में उनकी कार नहीं आ पायी। कार को रुकते ही बच्चों ने घेर लिया। इन्टेलीजेंस वालों ने ड्राइवर को ऐसा नक्शा खींच कर दिया था कि नागराजन को उसने सीधे कवि के घर के सामने जा खड़ा किया।

"कार को देखते रहना!" उन्होंने ड्राइवर को हिदायत दी थी, "बच्चे

हाथ न लगाएँ !" बच्चों की गन्दगी से उनके सिहरन दौड़ गयी। सरकारी है तो क्या, बैठना तो उन्हीं को है। वह गन्दगी बर्दाश्त नहीं कर सकते।

सुमन्त पहले तो गड़बड़ा गया। उसकी शिव की-सी जटाएँ एक बारगी तो तांडववाली भंगिमा में दशों दिशाओं में फैल गयीं। "नहीं, कदापि नहीं। इस कलम की कीमत नहीं लगायी जा सकती।" उसने नागराजन से कहा।

उसके तेज और दृढ़ता से नागराजन का विश्वास भी एक बारगी उसी तरह डगमगाया जैसे सुमन्त की जटाएँ लहरायी थीं पर उनकी इंग्लैंड की ट्रेनिंग का मूलमन्त्र था, धैर्य मत खोओ।

"सोच लीजिए," लगातार पाइप पीते हुए कुछ कसे स्वर में उन्होंने कहा था, 'अभी कोई जल्दी नहीं है।"

जब से वह कालोनी में घुसे थे उनका जी लगातार पाइप सुलगाए रहने के बावजूद सीलन और बदबू से मितला रहा था इसलिए गुस्से और घबराहट में, जो उनके हारने की भी निशानी-से थे, वह कई अन्य तरीकों पर भी सोच गये।

साला जैसे सड़े माहौल में रहता है, वैसी ही सड़ी कविताएँ लिखता है, मन-ही-मन सोच, वह दम साधे लौटे और अपने बँगले में जाकर तीन-चार बार साबुन से नहाने और आधी बोतल यूडिकोलोन छिड़कने के बाद ही उन्होंने पहली साँस ली थी।

"गाड़ी को अभी सीधे वर्कशाप ले जाओ और अच्छी तरह धुलवाई करवाओ," वह उतरते ही ड्राइवर को आदेश दे चुके थे इसलिए उनका दिल अब कुछ हल्का था कि कल सुबह धुली गाड़ी मिलेगी।

जैसा कि नागराजन ने सुझाया था कवि ने सोचा भी था, और जम के सोचा था। फिर पत्नी ने भी कवि से सोचवाया था और बच्चों ने भी सोचने के लिए प्रेरित किया था। और जैसा कि पत्नियाँ ऐसे मौकों पर अक्सर ही करती हैं, गायत्री ने भी अकाट्य तर्क दिया था कि यह तुम्हारी कविता का सम्मान है (पत्नी हिंदी साहित्य में एम० ए० थी) कि यह तुम्हारी रचनात्मकता का मूल्यांकन है, कि यह तुम्हारी प्रतिभा ही है जिसने आखिर सरकार को मजबूर किया है कि तुम्हें स्वीकार करे।

कवि जी इस पर हँसे थे ठट्ठा कर एक लंबी और मस्त हँसी। [illegible] वाली हँसी।

पर गायत्री रुकी नहीं थी। वह कवि की हँसी पहचानती थी। [illegible] में खिल्ली नहीं थी, आक्रोश नहीं था, शुद्ध आनन्द भी नहीं था, [illegible] था, आत्ममुग्धता का अहंकार।

उसने कहा था फैलोशिप में यह शर्त कहाँ है कि [illegible] अनुसार लिखोगे। तुम्हारे पास समय होगा, [illegible] चाहोगे लिख सकोगे। जो चाहोगे पढ़ [illegible] क्या ?

वाकेई यह अपने आप में बहुत बड़ी [illegible] भाये लिखो। जो मन आये, जब [illegible] पढ़ो-लिखो, लिखो-पढ़ो……

में एक बार फिर से सारी प्रक्रिया से गुजरती थी।

उस दिन शनिवार था। 'तीसरा विशाल भगवती जागरण' वास्तव में विशाल हुआ था। इधर पुराने शहर में कहीं भी इतना बड़ा समारोह हुआ हो, कोई कह पाने की हिम्मत नहीं कर पा रहा था। यह बात लाला हरकिशोर गुप्ता जी के विरोधियों ने तक मानी थी। क्या भव्य मण्डप बना, मानो शेरावाली साक्षात् उतर आयी हों। गली में दूर तक लगी चमकीली झालर व ट्यूब-लाइटें और उनसे भी दूर तक गये लाउड स्पीकर।

सीमा को आश्चर्य होता था जब ससुर जी में इतनी व्यवस्थापकीय क्षमता है तो उनकी दुकान रसातल में क्यों चली गयी ?

ससुर जी के और उसके बीच सम्बन्ध कभी मधुर नहीं रहे थे। उन्होंने उसका कई तरह से अपमान किया था—बदसूरत है, छोटी जाति की है, बेशहूर है आदि। वह सब चुपचाप सहती रही थी। असल में लाला जी इस चक्कर में थे कि लड़का कहीं न कहीं तो जमेगा ही, फिर उसका विवाह करेंगे और तब बहियों के काम को बन्द कर कपड़े का शो-रूम शुरू करेंगे। पर हरीश की 'लव मैरेज' ने उनके सारे मनसूबों पर पानी फेर दिया। लेकिन पत्थर की चट्टान से छाती पर से गुजरते वर्षों ने उन्हें आगे चलकर एहसास करा दिया कि यदि हरीश ने अपनी पूरी जिन्दगी में कोई सही काम किया है, तो इस बदसूरत, पर नौकरी पेशा औरत से 'लव मैरेज' का। यद्यपि उनका आक्रामक दृष्टिकोण समय के साथ न जाने कब का समाप्त हो गया था, पर सीमा उन बातों को भूल नहीं पायी थी।

लाला जी को विरासत में बहियों की एक अच्छी-खासी दुकान मिली थी, पर कुछ तो लाला जी सावन के अंधे थे और कुछ समय इतनी तेजी से बदल रहा था कि उनकी समझ में नहीं आ पाया कि बहियाँ अब सजावटी होती जा रही हैं और रजिस्टर आ रहा है। नतीजतन देखते-देखते दुकान लँगड़ाने लगी। इस बीच जो नया मोड़ आया वह लाला जी का परमात्मा की तलाश वाला था। व्यक्तिगत जीवन की इस सारी उथल-पुथल से लालाजी को कभी इतनी फुर्सत नहीं मिल पायी कि बच्चों की ओर ध्यान दे पाते। लड़की का भाग्य अच्छा था कहिए कि मरने से पहले माँ किसी तरह

उसकी शादी कर गयी। पर लड़कों का कुछ नहीं हो पाया। बड़ा लड़का कई वर्ष पंजाब मैट्रिक के चक्कर में रहा, फिर उसे भ्रम हुआ कि नहीं मैं—उन दिनों के हीरो—राजेन्द्र कुमार-से मिलता-जुलता हूँ इसलिए दो-तीन साल बम्बई गँवा आया। छोटा बेटा किसी तरह घसीटता-घसीटता बी० ए० कर गया, पर किस्मत कहिए कि लाख प्रयत्न के बावजूद एल० डी० सी० तक का टैस्ट पास नहीं कर पाया और अन्तत: कभी इस प्राइवेट कम्पनी में तो कभी उस में क्लर्की करता रहा। तीस पर पहुँच गया है पर जम अभी भी नहीं पाया है। जो भी हो, छोटा लड़का कुछ कर तो रहा था, बड़े के बारे में तो कुछ भी कहना सम्भव नहीं था।

एक बार उसने सोचा, हरीश इस आयोजन को देखता तो शायद अपने पिता की तारीफ कर पाता। वह पहले तो घर ही नहीं आया, जब आया तो ऐसी स्थिति में ही नहीं था कि सीधा बैठ भी सके। शराब वह अक्सर पीता था पर आज उसे दो आदमी छोड़कर गये। जैसे उसने जानबूझ कर यह सब किया हो। वह नास्तिक नहीं था, मन्दिर-मन्दिर जाता था, पर पिता के किसी भी काम में शरीक नहीं होता था।

हरीश के अन्दर अपने पिता के प्रति भरी घृणा सीमा की समझ में तब नहीं आ पाती थी। पर बाद में उसे लगा था कि हरीश के अन्तत: एक नाकारा और असामाजिक तत्व बन जाने में ससुर जी की भूमिका को क्या नकारा जा सकता है? अपने से आगे उन्हें शायद ही कभी कुछ नजर आया हो। वह अपने माँ-बाप के इकलौते बेटे थे और इस इकलौतेपन के बाहर उन्होंने कुछ भी देखने की कोशिश नहीं की।

किसी तरह उमेश और उसने मिलकर हरीश को उनके कमरे के बीचों बीच सुलाया था। उसने हरीश के जूते-मोजे उतारे, फिर जगह-जगह कीचड़ लगी कमीज उतारी और पंखा फुल कर दोनों जागरण में आ गये थे।

हरीश की दशा ने उसका दिल खिन्न कर दिया। यद्यपि ऐसा अक्सर नहीं होता था पर छठे-छमाहे हो ही जाता। हरीश का तमाशा बनना सीमा को अन्दर तक साल जाता। एक तरह से यह उसका अपमान था। लोग उसे देखते, अरे, बेचारी क्या करे। और वह मुंह दिखाने लायक

नहीं रह जाती थी। उसके और हरीश के बीच दीवार तेजी से बढ़ रही थी। पहले वह उसके बगैर खाना नहीं खाता था। उसके इन्तजार में बस-स्टाप पर खड़ा रहता और सुबह भी जब वह दफ्तर जा रही होती, उसे छोड़ने जाता। यह सिलसिला सालों चला। पिछले एक-आध साल में देखते-देखते सब समाप्त हो गया था। देखा जाए तो उसे भी हरीश का बेमतलब बस स्टैंड पर आना बुरा लगने लगा था। लोग भी ताने मारते। बात भी ठीक है, चौंतीस-पैंतीस का होने जा रहा था, पर काम के नाम पर बीवी को छोड़ना और लेने जाना। उसके साथ कहीं जाने में सीमा में पहले जो आत्म-विश्वास रहता था वह भी चटकने लगा था। क्या कहेगी मेरा 'हस्बैंड' क्या करता है कभी चरस का काम तो कभी स्मगलिंग का छोटा-मोटा धन्धा।

कहीं जैसे कोई रास्ता नहीं रह गया था। सात साल के अन्तराल की खायी क्या पाटी जा सकती थी? फिर उसने खुद ही माँ-बाप, भाई-बहन के विरोध के बावजूद शादी की थी। कई बार सोचती तलाक लेकर किसी होस्टल में रह ले। तनख्वाह उसके लिए कम नहीं थी। वह सरकारी नौकर थी और रिटायर होने तक आफिसर हो जाना लाजमी था, फिर पेंशन, प्रोविडेंट फंड, ग्रेच्युटी वगैरह मिलाकर उसको इतनी सुविधाएँ मिल जाएँगी कि अगर कोई उसकी मदद ना भी करे तो भी वह आराम से जी सकती है—वह हिसाब लगाती। पर तलाक भी आसान तो नहीं था।

हरीश चोट खाये जानवर-सा—जैसे-जैसे उम्र बढ़ रही थी उस की निराशा और हताशा भी बढ़ रही थी—हिंस्र होता जा रहा था। वह जानती थी हरीश भी अब सचेत हो चुका है कि पति के रूप में वह उसके आगे मान्य नहीं रहा है। संभवतः उसकी हार दोहरी थी, इसलिए उसकी हिंसा भी दोहरी थी, आत्म-पीड़न और दर्द भी दोहरा था। वह समझ गया था कि वह किसी के आगे बैठने लायक भी नहीं है। उसकी भाषा, उसके विषय, उसका सोचने का तरीका सब कुछ एक एक दूसरी दुनिया का है, जो उस दुनिया में कहीं फिट नहीं हो सकता, जिसमें सीमा उसे ले जाना चाहती है। सीमा से उसे भी खिजलाहट होने लगी थी। पर यह उसका खुद का किया था। उसने सीमा को फाँसा था और आज उसे एक तरह से यह बात भी दुख पहुँचाती कि सीमा के प्रति वह अपराधी है। कई बार

उसने सीमा के आगे प्रस्ताव रखने की सोची कि चलो अब अलग हो जाते हैं। मैं तुम्हें छोड़ता हूँ। तुम स्वतन्त्र हो। पर हिम्मत नहीं कर पाया यह सब कहने की। सम्भवत: इसलिए कि अब उसके जीने का आधार सीमा के आस-पास ही सिमट चुका था और इस जीने की आवश्यकता के दबाव में ही वह उस द्वन्द्व का शिकार था जो उसके जीवन को ऐसे मोड़ पर ले आया था जहाँ उसे अपने बारे में, अपनी सार्थकता के बारे में सोचना पड़ रहा था।

साढ़े बारह- एक के करीब वह घर को चली थी। जागरण पूरी उठान पर था। यद्यपि अगले दिन रविवार था पर सारे हफ्ते के काम निपटाने रहते हैं, इसलिए वह उठ आयी थी।

उमेश बाहर जीने तक छोड़ गया था। वह महक रहा था। उस दिन शाम से ससुरजी उसके नजदीक नहीं आये थे, इसका मतलब यह है उन्होंने भी घूंट लगायी हुई होगी।

जीना अन्धेरा था। उसे याद नहीं पड़ता इस जीने में कभी कोई बल्ब रहा भी हो। उसकी सैंडिल से लकड़ी का जीना रात के सन्नाटे में कुछ ज्यादा ही आवाज कर रहा था। शायद हरीश उठा हुआ हो, सहारे के लिए लटकाई रस्सी से चढ़ते हुए उसमें एक आशा जागी धूमिल-सी, पर सहसा ही बुझ गयी। पहले तो उठना ही सम्भव नहीं है, फिर अगर उठा भी होगा तो इतने नशे में कुछ कर पाने की स्थिति में होगा? अचानक उसे लगा वह स्वयं बहुत थकी हुई है, वर्षों से। ऐसी थकन जो खत्म नहीं होगी और उसे किसी भी तरह के उत्साह से वंचित कर देती है।

अभी दो-तीन सीढ़ियाँ रही होंगी कि कोई चिपचिपी चीज से उसकी सैंडिलें भर-सी गयीं। क्या होगा—उसकी समझ में नहीं आ पाया। जल्दी से बाकी सीढ़ियाँ पार कर उसने कमरे का ताला खोला और दरवाजा ढकेल कर बिजली जला दी।

उसकी आँखें विस्मय से खुली—की खुली रह गयीं। उनके कमरे से निकल कर खून की मोटी धारा सीढ़ियों से नीचे उतर रही थी। जल्दी से उसने अपने कमरे का स्विच ऑन किया और एक चीख के साथ बेहोश होकर गिर पड़ी।

वे लोग याद नहीं रख पाये की लोहे की भी उम्र होती है। चालीस साल पहले जिस कुंडे पर पंखा लटकाया गया था, उसे जंग खा चुका था। दूसरे महायुद्ध के दौरान का पंखा बेमतलब भारी था। उस रात बिजली के उतार-चढ़ाव का एक-आध झटका भी कुण्डा नहीं सह पाया। चलता पंखा सीधा सोते हरीश के सिर पर ऐसा पड़ा कि वह छटपटा तक नहीं पाया। सारी घटना इस अप्रत्याशित ढंग से घटी थी कि सीमा को लग रहा था मानो वह इस सारे घटना-क्रम का एक अनचाहा पर आवश्यक अंग न होकर, तटस्थ दर्शक मात्र हो।

अब ?

उसके दिमाग में यह प्रश्न मौत से जुड़े सारे अनुष्ठानों के दौरान घूमता रहा था।

वह कहाँ जा सकती है ?

वापस पिता के यहाँ ?

या अपने एक निजी जीवन की शुरूआत करे ?

अथवा जिस परिवार में वह बहू बन कर आयी वहीं रहे ?

सम्भवत: कुछ दिन उसे रहना चाहिए। यह एक ऐसा विचार था जो उसे बहुत ही सांसारिक व व्यावहारिक लगा। उसका परिवार पिता के रिटायर होने के बाद गाँव चला गया था। उसे देखना था कि इस दुर्घटना की सूचना की उन पर क्या प्रतिक्रिया होगी। उसके बाद वह अपना रास्ता निर्धारित करेगी।

घर वाले आये, पर उनके पास कहने को कुछ नहीं था। लेकिन सबसे बड़ी बात यह हुई थी कि उसके ससुर जी का उसके प्रति दृष्टिकोण अचानक इतना बदल गया था कि उसका सारा मैल ही नहीं धुल गया बल्कि कई बार उसे लगा कि अब वह उनके अलावा किसी पर निर्भर नहीं रह सकती। दुख में शामिल होने वाले से निकट क्या कोई हो सकता है ? एक पल ऐसा नहीं होता था जब कि सीमा अकेली रह जाए। वह उसे रोने नहीं देते थे—'जो हो गया सो हो गया, बेटा।' वह कहते, हमें भविष्य की ओर देखना चाहिए। उसका अन्नजल इतना ही था, वरना इस तरह दुनिया न छोड़ता।'

तेरहवीं को दस दिन हुए होंगे कि एक शाम वह बोले, "देखो बेटा, मैं बूढ़ा हूँ, कब तक चलूँगा, कह नहीं सकता। तेरे पिता भी बूढ़े हैं, उनके भरोसे भी गाड़ी नहीं चल सकेगी।"

वह चुप सुनती रही, बिना इस बात का अनुमान लगाये कि ससुर जी कहना क्या चाहते हैं। उसने उनकी ओर गौर से देखा।

वह थोड़ा रुक गए थे। शायद उसके देखने से एक क्षण को विचलित भी हुए हों। आत्मविश्वास बनाये रखने में जैसे कठिनाई हो रही हो।

"यह दुनिया बड़ी निर्दयी है।" उन्होंने थोड़े काँपते से स्वर में कहना शुरू किया, "अकेले, चाहे आदमी ही क्यों न हो, रह पाना बड़ा कठिन काम है। तू तो औरत है। अकेली औरत के लिए दुनिया लोहे की तपती चादर पर चलने की तरह है।"

उसने एक बार फिर उनकी ओर देखा, एक चौंकने-विस्मय से।

इस बार वह काफी देर तक रुके—नाला फाँदने के-से अनिर्णय-से। अन्ततः सीमा के पिता की ओर देखते हुए बोले, "मेरी और," उन्होंने विराम दिया, "तेरे पिताजी की भी यही राय है कि तेरे आगे अभी काफी दुनिया पड़ी है। और ऐसी स्थिति में जबकि इतनी लम्बी उम्र सामने हो, अकेले खींच पाना, तू जानती है, कितना कठिन है। हम लोगों ने ज्यादा दिन नहीं रहना है।"

वह फिर रुके।

वह अगले वाक्य का इन्तजार करने लगी।

"किस्मत की लिखी को कौन मेट सकता है। मुझे देख! कौन है मुझसे ज्यादा बदनसीब! पर अफसोस से क्या होने वाला है। कर्मों का फल भोगना है, वरना बता, जिस बेटे ने कन्धा देना चाहिए था वह मेरे कंधे पर होता। क्या इसी दिन के लिए उसे गोद खिलाया था! 'उनका गला रुँध गया और वह खिड़की के बाहर देखने लगे। काफी देर उसी तरह देखते रहे, शून्य में। फिर उन्होंने अपनी आँखें पोंछीं और वह धीरे-धीरे बुदबुदाये :

"न जायते मृयते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥"

"किसके लिए शोक करें ?" उन्होंने न जाने किससे पूछा।

सीमा विह्वल हो उठी थी। उनका शोक भी कुछ कम नहीं था। उन्हें देख, उसने अपनी फूटती रुलाई पर काबू करते हुए खुद से कहा था, 'नहीं ! मुझे रोककर इस बूढ़े के असीम दुख को और नहीं बढ़ाना है।'

"तू जानती ही है," वह बोल रहे थे, "मैं बीमार रहता हूँ, न जाने कब शरीर साथ छोड़ देगा। तुझे इस तरह अकेला-असहाय छोड़, क्या शान्ति से मर भी सकूंगा ? मेरी आत्मा सदा भटकती नहीं रह जायेगी ?" और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। देर तक सन्नाटा भाँय-भाँय करता रहा—बर्फीले तूफान-सा। उन्होंने अचानक प्रश्न किया, "क्या तू चाहती है मेरी आत्मा इस बोझ से मुक्त न हो ?"

इस बार उससे रुलाई पर नियंत्रण न हो सका। वह हौले-हौले सुबकने लगी। "मैं क्या कर सकती हूँ ?" उसने आन्तरिक पीड़ा से कहा।

"वह तो बेटा, मेरी समझ में भी नहीं आता, पर बेटा एक बात जानता हूँ, जो चला गया लौटकर नहीं आ सकता।" उन्होंने साँस ली थी। "बेटा ! हम चाहते हैं, तू बीते को भूल, भविष्य की चिन्ता कर !" और वह चुप हो गये।

यद्यपि ससुर जी की बात मौके के लिहाज से सहज भाव से कही गयी बात से अलग नहीं थी, पर कुछ ऐसा था, जो उसे बेचैन कर रहा था।

अब उसने नोट किया कि जो ससुर जी सदा उसे तुम कहते थे, न जाने कब से तू कहने लगे थे। इस नये सम्बोधन की गहराई तब वह आँक नहीं पायी थी और मन्तव्य समझने का प्रयत्न करती रह गयी थी।

अगले दिन फिर वही सारा सम्वाद दुहराया गया था, फिर अगले दिन। उसके अगले दिन भी। उन्होंने सीमा पर दबाव डाला कि वह तत्काल दफ्तर जाना शुरू कर दे। और अगले सप्ताह उसने दफ्तर 'ज्वाइन' कर भी लिया था।

पहले दिन उमेश उसे छोड़ने आया था, फिर लेने भी आया। और उसके बाद हर सुबह, हर शाम लेने और छोड़ने आने लगा था। कई बार उसने सोचा था—कह दे तुम्हें आने की अब कोई जरूरत नहीं है, मैं आ जाऊँगी। पर अंदर ही अंदर वह अपने को कहीं कमजोर भी महसूस करती

रही थी। उमेश का उसे लेने आना संवेदनात्मक स्तर पर उसे अकेला होने से कहीं बचा भी रहा था।

कुछ दिनों की चुप्पी के बाद ससुर जी ने फिर वहीं से बात शुरू की थी, 'मैं बीमार रहता हूँ। न जाने कब बुलावा आ जाये। तुझे इस तरह अकेला-असहाय छोड़ में शान्ति से मर भी नहीं सकूंगा। क्या तू चाहती है मेरी आत्मा को शान्ति भी न मिले ?"

"लाला जी आप मुझसे क्या चाहते हैं ?" उस दिन हताश होकर उसने पूछ ही लिया था। ससुर जी उससे आखिर चाहते क्या हैं, घर से बाहर करना है ? ठीक है, वह जाने को तैयार है, उसने तय कर लिया था।

"मैं चाहता हूँ तू नये सिरे से जिन्दगी शुरू कर।" वह कह गये।

"वह तो मैं कर ही रही हूँ।" उसने आश्वासन देने वाले अन्दाज में कहा।

लाला जी ने न जाने इसका क्या अर्थ लगाया।

"वह तो ठीक है। पर मैं चाहता हूँ तुम विवाह कर लो।"

"क्या मतलब !" वह कुर्सी से खड़ी हो गयी थी।

उन्होंने और बातें भी स्पष्ट कर दी थीं।

यह सुनकर ही वह आपे से बाहर हो गयी थी। "क्या बात करते हैं, वह लड़का जिसे मैं छोटे भाई की तरह मानती हूँ, उसके बारे में आप इस तरह की बातें कैसे कह रहे हैं ?"

पर धीरे-धीरे सब शान्त हो गया था। सम्बन्ध अंततः बनाने होते हैं, अन्यथा उनका कोई अर्थ नहीं है। पिता के घर वह जा नहीं सकती थी। दुनिया के बारे में उसे बताया गया था वह बड़ा जालिम है। इसके अलावा एक विधवा के रूप में इस घर में भी उसका क्या था ? किस आधार पर वह इससे जुड़ी रह सकती थी ? हरीश न सही, उसकी कोई निशानी ही होती।

फिर उसके माता-पिता ने भी तो दबाव डाला था और अन्ततः उसे मानना पड़ा था कि सम्भवतः इससे बढ़िया रास्ता कोई और है ही नहीं।

सवाल तो सवाल होता है।

घटा के सवाल का उत्तर जोड़ से नहीं मिलता।

नवम्बर के शुरू की ठंड के बावजूद उसे पसीना हो आया। वह पलंग से उठी और कमरे में टहलने लगी।

क्या अर्थ है इस विवाह का ? जब इससे उसे किसी तरह की सुरक्षा नहीं है, जिसका हव्वा दिखलाकर उसे घेरा गया, तो फिर उसने इसे स्वीकार क्यों किया ? जिन्दगी भर यह सुनने के लिए कि पहले खसम की बरसी भी नहीं होने दी, अपने से छोटे देवर के साथ बैठ गयी। क्या वह गाय है कि जब चाहे जिस के आगे बांध दो ?

किसे चाहिए सुरक्षा ?

उसे ?

ससुर जी को ?

या उमेश को ?

वह सोचती रही और घूमती रही—कमरे के इस कोने से उस कोने तक—तब तक जब तक कि लकड़ी के जीने से उठती पदचाप ने उसकी विचारधारा भंग नहीं कर दी।

वह झपटी, दरवाजा बन्द कर सिटकनी चढ़ाई और बिजली बुझा दी।

पदचाप अब दस्तक में बदल चुकी थी।

(1983)

खून

वे आहिस्ता-आहिस्ता फाटक की ओर बढ़ रहे थे। पीछे अस्पताल की आठ मंजिला सलेटी इमारत के दोनों कोने के ब्लॉक इस अन्दाज में सामने को निकले थे, जैसे दानव अपनी भुजाएँ फैलाये, जो भी आये, दबोच लेने को खड़ा हो। लड़के के कन्धे पर लटके शान्तिनिकेतनी थैले में—साड़ी, ब्लाउज अन्दर के कुछ कपड़े, बची हुई दवाएँ व एकाध, जो उससे खाये नहीं गये. फल थे।

"देर कैसे हो गयी?" लड़की ने पूछा।

"तुम्हें सुबह ही छुट्टी मिल गयी थी क्या?" लड़के ने प्रत्युत्तर में प्रश्न किया।

"सुबह तो नहीं, पर ग्यारह बजे डॉक्टर ने जाने को कह दिया था।"

"तो तुमने बेड तभी खाली कर दिया था?" लड़के ने परेशान हो पूछा।

"हाँ, कोई नया मरीज आ गया था, जगह नहीं थी।" वैसे उसे दो दिन पहले ही छुट्टी मिल जानी थी, पर बुखार की वजह से रोक दिया गया था।

दिन बेहोशी में डूबते दिमाग-सा अन्धेरे की ओर बढ़ रहा था। फरवरी के यद्यपि कुछ ही दिन बचे थे पर ठंड वहीं थी, जहाँ जनवरी के आखिर या बहुत हुआ तो फरवरी के शुरू में, हुआ करती है। अस्पताल की हद अब पार हो चुकी थी। सामने की व्यस्त सड़क की भीड़ दफ्तरों के छूट जाने के कारण काफी बढ़ गयी थी। लड़का सोच रहा था इस समय बस मिलना तो नामुमकिन-सा है। और यह इतनी कमजोर है कि दौड़ना

तो दूर रहा, चल भी नहीं सकती, उस पर सीट मिले न मिले। वह हिसाब लगाने लगा—स्कूटर-रिक्शा किया तो कितने रुपये होंगे ? उसे लगा सिर्फ स्कूटर-रिक्शा में सात-आठ रुपये खराब करना वाजिब नहीं है।

बेहतर यह रहेगा कि कनाट प्लेस तक ही फोरसीटर में जाया जाये, उसने लगभग निर्णय कर लिया। वहाँ से बसें चूंकि शुरू होती हैं इसलिए सीट आराम से मिल जाने की पूरी सम्भावना रहती है। यद्यपि यह रास्ता सबसे सुविधाजनक था, पर वह कहीं अन्दर-ही-अन्दर कनाट प्लेस जाने से बचना भी चाहता था।

खामोशी से बचने के लिए उसने पूछा, "डॉक्टर ने क्या कहा, आने के बारे में ?"

"आना होगा, 'फॉलो अप' के लिए, पन्द्रह दिन बाद। न जाने अभी और क्या करेंगे।" लड़की ने लम्बी साँस ली और मुड़ कर अस्पताल की आठ मंजिला इमारत को ऊपर से नीचे तक देखा। छठी मंजिल पर अपने वार्ड को उसने तत्काल पहचान लिया। लगभग सारी इमारत में रोशनी हो चुकी थी, उसे आश्चर्य हुआ—गाइनी-टू में अभी अन्धेरा ही था। उस अन्धेरे ने उसकी कमजोरी को बेइन्तहा बढ़ा दिया। वार्ड का ठंडापन अभी भी उसके शरीर में जमा हुआ था। अचानक बढ़ आयी कँपकँपी को रोकने के प्रयास में उसने शॉल को कस कर लपेट लिया। उसका सर हौले-हौले भन्नाने लगा, जैसे फिर से ऑपरेशन टेबुल पर लेटी हो और 'एनिस्थीसिया' दिया जा चुका हो। एक, दो, तीन, चार···और उसे कुछ याद नहीं। वह पूरी तरह सहारे के लिए लड़के पर झुक-सी गयी। लड़के ने चौंक कर उसकी ओर देखा।

"तुम्हारी तबीयत तो ठीक है ना !" उसके स्वर में घबराहट थी।

"बिलकुल ठीक है।" लड़की ने अचानक बढ़ आयी तन्द्रा से लड़ते हुए हल्के स्वर में कहा और फिर कुछ रुक कर स्वयं को स्वस्थ सिद्ध करने के के लिए पूछा, "तुम्हें देर क्यों हो गयी ?"

"सुनो, अभी हम अस्पताल ही में हैं; कुछ गड़बड़ हो तो चलो पूछ लें।" लड़का ऐसे में उसके स्वास्थ्य के बारे में कोई खतरा नहीं उठाना चाहता था।

"नहीं," वह मुस्करायी, "मैं बिलकुल ठीक हूँ।" और सीधी हो चलने लगी।

उस दिन जब उसे होश आया था तो जबर्दस्त ठंड लग रही थी, सर में सैकड़ों सुइयों के एक साथ चुभो दिये जाने की-सी जानलेवा पीड़ा, और मितली-सी महसूस हो रही थी। जैसे-जैसे 'एनिस्थीसिया' का असर कम होता जा रहा था, पेड़ू के ठीक नीचे उठता दर्द तीखा हो, उसकी रीढ़ से चलता दिमाग में समा रहा था।

उसने एक बार फिर बीमार मानसिकता से उबरने का प्रयत्न किया और प्रश्न दुहराया, "तुम देर से क्यों आये?"

लड़के ने उसकी अभी-अभी की हालत को देखते हुए उसे बाँह से कस कर पकड़ लिया और सड़क पार करते हुए कहा, "असल में आज लेबर ऑफिस जाना था।···मैंने शायद कल तुमसे कहा भी था, हैं, क्यों?"

लड़की ने 'हूँ' भर कहा और दायीं ओर देखने लगी।

"मैंने सोचा जल्दी ही काम हो जायेगा पर वहाँ बेमतलब की देर लग गयी।" लड़के ने एक ही साँस में सफाई देनेवाले अन्दाज में बात पूरी की।

अब तक वे बस-स्टाप पर आ चुके थे।

"कुछ होने की उम्मीद है?" खड़े होते हुए लड़की ने पूछा।

"तुम जानती ही हो···" लड़के ने बात आधे में ही छोड़ दी।

उसे सामने खड़े फोरसीटर की ओर बढ़ते देख लड़की ने कहा, "सुनो; पैसे बरबाद न करो? अभी बस आ जायेगी।"

"तुम्हें इसमें कोई दिक्कत तो नहीं होगी?" लड़के ने अचानक ठिठककर कुछ सोचते हुए प्रश्न किया।

"दिक्कत, अब···? नहीं।" लड़की ने बिना उसकी ओर देखे उत्तर दिया। लड़के को लगा मानो किसी ने उसकी नंगी पीठ पर पूरी ताकत से एक कोड़ा मारा हो, जो शरीर के एक कोने से दूसरे कोने तक खाल नोचता चला गया।

फोरसीटर के पास आ कर लड़की भी कुछ ठहरी। उसके पेट में ऐसा दर्द होने लगा मानो किसी तेज दुधारी औजार से कुरेदा जा रहा हो। फिर

से 'सोडियम थाईपेंटीन' उसकी नसों में दौड़ने लगा। एक पल को लगा वह बेहोश हो गिर पड़ेगी कि तभी लड़के ने हाथ बढ़ा कर उसे सीट पर बैठा दिया।

फोरसीटर की स्टार्ट होने की आवाज ने ऑपरेशन टेबिल से वापस उसे सड़क पर ला दिया। उसने पूछा, "यह हमें कहां छोड़ेगा ?"

"कनाट प्लेस !" लड़के ने कुछ झिझकते हुए उत्तर दिया।

"कनाट प्लेस ?" लड़की ठिठकी। "कनाट प्लेस।" कुछ आतंक भरे स्वर में उसने दुहराया।

"वहां से हमें बस आसानी से मिल जायेगी।" लड़के ने लगभग असहाय स्वर में कहा।

असल में जब से उन्हें दफ्तर से निकाला गया था दोनों ही कनाट प्लेस की ओर जाने से बचते। उन्हें यह तो मालूम था कि उन दोनों के विवाह की बात को आसानी से स्वीकारा नहीं जायेगा। पर यह पता नहीं था कि, एकाध को छोड़, सारा दफ्तर ही खिलाफ हो जायेगा।

जब दफ्तर में बात काफी फैल गयी तो एक दिन रीजनल मैनेजर ने उसे बुला कर चेतावनी वाले अन्दाज में कहा था, "देखो, मिस्टर इशरत खान ! मैं इस तरह की बातें टॉलरेट नहीं करता। दफ्तर का भी कुछ 'डिकोरम' होता है। यह इश्क लड़ाने की जगह नहीं है।"

"वट सर।" वह कुछ कहना चाहता था, पर उसे बीच में ही टोक कर रीजनल मैनेजर ने कहा था, देखो तुम ऑफिस का 'एटमोसफीयर' बिगाड़ रहे हो। वैसे भी मैं यहां हिन्दू-मुस्लिम दंगा नहीं करवाना चाहता। "यू मस्ट कीप इट इन माइंड दैट यू पीपुल बिलांग टु टू डिफरेंट कम्युनिटीज।"

लड़की को अलग तलब किया गया····"देखो मिस लक्ष्मी, तुम हिन्दू हो और उस पर भी ब्राह्मण। तुम्हें एक मुसलमान लड़के से इस तरह के सम्बन्ध नहीं रखने चाहिए।" लक्ष्मी के पिता को भी समय रहते सारी बातें बतलायी गयीं और उनको अपनी नाक और हिन्दुओं की इज्जत के बारे में सावधान कर दिया गया।

इस डांट-डपट, चेतावनी, बहिष्कार, ताने और अन्य दबावों ने इशरत को मानसिक रूप से इतना त्रस्त कर दिया कि अक्सर अकेले में उसे लगता कि वह रो पड़ेगा। नौकरी बदलना आसान नहीं था और भाग कर कोई जा भी कहाँ तक सकता था। वैसे भी नौकरी उसके लिए काफी महत्वपूर्ण थी, सिर्फ इसीलिए नहीं कि बेरोजगारी के लम्बे दौर के बाद कहीं वह इस कम्पनी में आ सका था, बल्कि उसकी रोजी से दो पेट और जुड़े थे। कल को अगर उसे कुछ हो जाये तो उसकी विधवा माँ और छोटे भाई का क्या होगा, वह सोच नहीं पाता था। उसे लगा था एक ही रास्ता है। लक्ष्मी के साथ सम्बन्धों को आगे नहीं बढ़ने दिया जा सकता। उसने कोशिश की कि वह लक्ष्मी के बारे में सोचे तक नहीं, पर एक बार लक्ष्मी से साफ-साफ बातें कर लेनी चाहिए जिससे किसी तरह की कोई कटुता न रहे।

यद्यपि लक्ष्मी भी कमोवेश इसी निर्णय पर पहुँची थी, इसके बावजूद दोनों को एक-दूसरे का फैसला खला था। उस दिन वह सोच ही बैठा था—अगर वह मुसलमान नहीं होता तो कितना अच्छा होता! या लक्ष्मी ही हिन्दू नहीं होती तो यह झगड़ा भी न होता। शुरू की बात उसे याद हो आयी। लक्ष्मी ने एक दिन उससे अचानक पूछा था, "माफ कीजिएगा खान साहब, ये इशरत का क्या मतलब होता है?"

"इशरत का मतलब वैभव!"

"वैभव! वाह बड़ा अच्छा नाम है आपका! तब तो आपको वैभव भी कहा जा सकता है।"

"क्यों? वैभव क्यों? इशरत क्यों नहीं?" उसने एक साथ कई प्रश्न कर डाले, "क्या आप मुझे हिन्दू बनाना चाहती हैं?" उसने कुछ तीखे अन्दाज में पूछा था।

"क्या शब्दों का भी धर्म होता है खान साहब?" लक्ष्मी मुसकरायी थी।

रह-रह कर याद आ रही बातें, पुरानी किसी चोट-सी टीसने लगी थीं। और पहली बार उसका मन धर्म और सम्प्रदाय के प्रति असीम घृणा से भर रहा था। क्या फर्क पड़ता है, वह सोचने लगा कि हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या बौद्ध। लक्ष्मी की साहसिकता और दृढ़ता का वह

कायल था और शायद यही कारण था जो उसे लक्ष्मी से जोड़े था।

एक दिन लक्ष्मी ने उसे बतलाया था कि उसके पिता उसको पढ़ाने के विरुद्ध थे। वह चाहते थे हायर सेकेन्ड्री के बाद ही लक्ष्मी का विवाह हो जाये। जहाँ तक नौकरी का सवाल था वह तो उन्हें बिलकुल मंजूर नहीं था। लक्ष्मी बतलाने लगी, "मुझे औरत होकर रहना पसन्द नहीं है। हर समय चाहरदीवारी में बन्द, रोटी पकाओ और बरतन माँजो। सबसे बड़ी बात है एक-एक पैसे के लिए किसी-न-किसी के सदा मोहताज, कभी बाप-भाई के तो कभी पति-बेटे के।"

उसने पूछा था, "तो तुमने अपने पिताजी को कैसे मनाया ?"

"उन्हें मानना पड़ा।" संक्षिप्त-सा उत्तर था।

"पर तुमने पढ़ा तो सिर्फ बी० ए० तक ही ना ?"

"हाँ ! आगे पिताजी से ली फीस पर पढ़ना मुझे अच्छा नहीं लगा।" अजीब-सा उत्तर था। वह कुछ रुक कर फिर बोली, "तुम सोचते होगे मैं कुछ ज्यादा ही घमण्डी हूँ, पर पिताजी की आर्थिक स्थिति भी ऐसी नहीं थी। वैसे भी वह एक भाई को इन्जीनियरी करवा रहे थे और सच पूछो तो भाई को पढ़ाना उन्हें ज्यादा जरूरी लगता था।" वह कुछ मुस्करायी, "मैं आजकल पैसे बचा रही हूँ। एक साल और नौकरी करूँगी, तब एम० ए० करके पी० एच-डी० का इरादा है।"

कभी उसने भी बहुत पढ़ने के सपने देखे थे, इसलिए पढ़ाई को लेकर चर्चा, एम० ए० और रिसर्च टॉपिकों पर अन्तहीन खयाली पुलावों के सिलसिले, उनकी प्रिय बातचीत हो गये थे।

एक-दूसरे से न मिलने का निर्णय ज्यादा दिन नहीं टिक पाया था। यद्यपि उन्होंने विवाह करने की कभी सोची ही नहीं थी, वे यह भी नहीं जान पाये कि उनके सम्बन्ध किस स्तर तक गहरे हो चुके हैं। पर इधर दफ्तर का वातावरण इतना दूषित और घुटन भरा हो गया था कि उनके सामने अपने अस्तित्व को लेकर ही सवाल उठने लगे थे।

एक दिन लक्ष्मी ने साफ कह दिया, "इशरत, मैंने फैसला कर लिया है। चुनौती का साथ मिल कर ही सामना हो सकता है, और अब करेंगे।"

"क्या मतलब ?" वह थोड़ा सशंकित हो उठा था। उसकी घबराहट बढ़ गयी।

"क्या तुम तैयार हो?"

"पर..."

"पर-वर कुछ नहीं। हाँ या ना में, जवाब दो।"

"थोड़ा समय दो। देखो ज़ज़्बातों में..."

"मैंने सब कुछ सोच लिया है। मैं इस तरह नहीं रहना चाहती। अपने बारे में, जो कुछ करना है, उसका फैसला स्वयं मैं करूँगी। मुझे किससे मिलना है और किससे नहीं, यह मैं जानती हूँ। तुमने जो सोचना है सोच लो।" भावावेश और क्रोध से उसकी आवाज काँप रही थी।

उसकी समझ में नहीं आया हाँ कहता है तो क्या होगा और ना, तो वह क्या करेगी। पूछ पाने का साहस उसमें नहीं था। अंततः उसने कह दिया, "ठीक है।"

"तो इंतजाम कर लो।" बिना किसी भावुकता से उसने कहा था और वह चली गयी।

कनाट प्लेस आ कर दिल हुआ कॉफी पी लें, पर पैसे !

उन्होंने बस ली। स्टैंड से घर को जड़ोनेवाली अँधेरी गलियों को पार करते-करते तक लक्ष्मी की कमजोरी उस सीमा पर पहुँच गयी, जब सिर्फ आत्मशक्ति के बल पर उससे लड़ पाना संभव नहीं रह जाता। बेहोशी के घाव पिड़ाने लगे थे। दर्द पेड़ू से उठता हुआ सारे शरीर में जहर-सा फैल चुका था। कमरे में आते ही इससे पहले कि इशरत बिस्तर लगा पाता, वह यों ही दरी पर निढाल पड़ गयी। दिन भर बंद रहने से कमरे में कुछ इस तरह की गर्मी थी जैसे अक्सर आलू के गोदामों में रहा करती है—बासी गंध, पर यह सब अच्छा लग रहा था। थोड़ा आराम मिलने के साथ घर लौट आने की सुरक्षा के भाव के सुख ने तनाव और दर्द को कुछ कम कर दिया। इच्छा हुई कि बढ़िया-सी चाय बना कर इशरत को पिलाये। उसने उठना चाहा पर अब तक स्टोव की आवाज से कमरा गूंज रहा था।

इशरत ने हिलाया, "लक्ष्मी !" वह उठ बैठी। इशरत हाथ में कप

लिये चिंतित देख रहा था। वह हौले से मुसकरायी, "झपकी-सी आ गयी थी···क्या कर रहे हो ?" कप लेते हुए उसने पूछा।

"खिचड़ी की तैयारी। कैसा रहेगा ?"

"हां ठीक है। मैं बनाऊं ?" वह जानती थी इशरत बहुत थका हुआ है। न जाने कहां-कहां दिन भर मारा-मारा फिरा होगा।

"अरे नहीं। तुम देखती रहो।" वह मुसकराय,। शायद पहली बार और व्यस्त हो गया।

खिचड़ी अच्छी बनी थी, चाहते हुए भी वे ज्यादा खा नहीं पाये।

स्टोव बुझ चुका था, इसलिए चुप्पी कुछ ज्यादा ही अखरने लगी थी।

"क्या सोच रहे हो ?" लंबी चुप्पी को लक्ष्मी ने ही तोड़ा।

"कुछ नहीं यूं ही।"

"यूं ही क्या ?"

"सोचता हूं घर चले चलें कुछ दिन के लिए।"

"ठीक है, पर यहां की तारीखें कौन भुगतेगा।"

"यह भी समस्या है, पर बिना पैसे के यहां रह पाना भी कब तक संभव हो पायेगा ?"

"तुम्हारे पास कितने पैसे हैं ?"

"अभी थोड़े हैं। तुम चिंता न करो।" इशरत ने हंसने की असफल कोशिश की। वह अब तक बिस्तरा बिछा कर उसके पास ही बैठ गया था।

"बताओ।"

"यही कोई तीस, शायद पच्चीस।" इशरत का नकली आत्म-विश्वास ढह गया।

"तब तो कुछ करना होगा।" वह कुछ रुकी, "कल मेरे ये कान के बेच देना।"

वह चुप रहा। आखिरी गहना। असल में उसने पहले ही अपनी घड़ी बेचने का फैसला कर लिया था, पर लक्ष्मी की बात ने उसे विचलित कर दिया। उसका गला भर आया। एक हाथ से लक्ष्मी को वह देर तक थप-थपाता रहा, क्या दिया उसने लक्ष्मी को ? न गाजा-बाजा, न धूम-धाम, न

कपड़ा, न गहना, एक तनाव भरे सन्नाटे के अलावा।

"फिर बन जायेंगे।" वह हौले से मुसकरायी, "तुम बड़े भावुक हो।" और उसके सीने में सर रखकर लेट गयी।

अपने को नियंत्रित करने के प्रयत्न में वह बहुत देर तक बोल ही नहीं पाया और जब तक कुछ सामान्य हुआ, लक्ष्मी को नींद आ चुकी थी। उसने हौले से उसका सर तकिये में रखा और बत्ती बुझा दी।

पिछली घटनाएं उसकी आँखों के आगे रोज ही किसी बहुत ही डरावनी फिल्म की तरह घूमने लगती हैं। नींद अब अक्सर नहीं आती, सिर्फ बातें बातें, बातें, घटनाएँ, घटनाएँ, घटनाएँ। उसका दिमाग किसी इस्पात मिल की धमन भट्टी की तरह धधकने लगा।

शादी करने पर वही हुआ जो होना था, दोनों को 'टर्मीनेट' ही नहीं कर दिया गया, बल्कि इशरत पर फाइलें चोरी करने का आरोप भी लगाकर पुलिस पीछे कर दी गयी। वे दोनों, यहाँ से वहाँ, वहाँ से वहाँ, सारे शहर में छुपते फिरे। किसी तरह पुलिस का झगड़ा निबटा तो लेबर कोर्ट, लेबर ऑफिस और यूनियन के चक्कर शुरू हो गये। दफ्तर वाले लक्ष्मी का हिसाब करने को तो तैयार थे, जिसमें प्रोविडेंट फंड, ग्रेच्युटी और निकालने की एक महीने की तनख्वाह भी शामिल थी, पर इशरत को लिखकर देना था कि मुझसे गलती हुई और उसके लिए मैं माफी चाहता हूँ। दूसरे शब्दों में उसे अपनी चोरी स्वीकार करनी थी। यह बात उनमें से किसी को मंजूर नहीं थी और अब पिछले छह महीने से लेबर कोर्ट के रोज चक्कर पर चक्कर लग रहे थे। कभी मैनेजमेंट का वकील नहीं आता, तो कभी मैनेजर। कभी कोई बहाना, तो कभी कोई। आज इस कागज के लिए मोहलत तो कल उसके लिए। वे देख रहे थे कि उनकी सहनशक्ति की परीक्षा नहीं ली जा रही, बल्कि उसे तोड़ा जा रहा था। आज भी उसी नाटक के सिलसिले में वह लेबर आफिस गया था। धीरे-धीरे जो बचत थी वह लगभग खत्म हो चली थी और अब सवाल था कि कहाँ जायें।

अचानक लक्ष्मी अजीब-सी आवाज करने लगी। वह घबरा गया। दरवाजे की झिरियों से अंदर आ रही स्ट्रीट लाइट की रोशनी में उसने

देखा, लक्ष्मी सोये में ही रुआंसी-रुआंसी-सी हो रही थी। उसने उसे हौले-हौले किसी बच्चे की तरह थपथपाया। रात काफी हो चुकी थी। सड़कों पर आवाज बिलकुल बन्द थी। इस सन्नाटे में माता के जागरण के भजनों की आवाज बहुत साफ कमरे में सुनायी पड़ रही थी।

दिमाग की भट्टी अभी जल रही थी, पिछले छह महीने में शायद ही कोई दिन ऐसा रहा हो जब वे भरपेट निश्चिंत खा पाये हों। सुख की आशा में उलटे वे तेजी से भुख-मरी के कगार पर पहुँच रहे थे और अब तो वह नौबत आ गयी थी जब रोटी, सादी रूखी-सूखी रोटी भी, सुनहरे ख्वाब में बदल जाती है। इसी बीच दो महीने पहले नयी समस्या आ खड़ी हुई थी। एक अजीब समस्या। उसकी समझ में नहीं आ पाया था, क्या करे। लक्ष्मी गर्भवती थी।

क्या घर चले जायें ? पर वहाँ जाने से क्या होगा ? और अगर··· पर तब, पहला बच्चा।

लक्ष्मी ने कहा कुछ भी कर लेंगे। कुछ न कुछ तो हो ही जायेगा। हो सकता था इस बीच कोई न कोई नौकरी मिल ही जाती, अगर माना बाबू-गीरी न मिलती तो क्या वह मेहनत-मजूरी नहीं कर सकता था ? वह अपने को रह-रह कर आज भी धिक्कार उठता है। पर हर बीतते दिन के साथ उनकी हिम्मत रेशा-रेशा बिखरती गयी थी। भूख का साया शरीर धारण कर अब सीधे हाथ डालने लगा था। उधर समय किसी रेफरी-सा तटस्थ मुसकराता सिर्फ निर्णय की घड़ी की प्रतीक्षा में था, जब वह लम्बी सीटी बजाकर खेल खत्म का सिगनल दिखा सके। एक-एक दिन मिलकर हफ्ते में बदल जाते और फिर महीने गिनना आशा के फलीभूत होने की प्रतीक्षा की जगह असहाय हो 'तब क्या होगा' की विडंबना और अनहोनी 'ट्रेजेडी' के आतंक में जीना मात्र रह गये थे।

तभी लक्ष्मी हड़बड़ा कर उठ बैठी।

"क्या हुआ ?"

'ये माँ, माँ कौन कर रहा है ?" लक्ष्मी ने बीमार स्वर में पूछा।

"अरे माँ-माँ नहीं, जै माता की, जै माता की हो रही है। ये सले

जगराते वाले हैं। क्या बेहूदगी है, सोने तक नहीं देते। सो जाओ, तुम सो जाओ।" उसका स्वर बेतरह कोमल हो उठा था।

पर वह उठकर बैठ गयी। बीमार चेहरे पर दर्द के पंजे के गहरे निशान उभर आये थे।

"क्या हुआ?" इशरत ने चिंतित हो पूछा।

"कुछ नहीं बाथरूम जाऊँगी।" वह दीवार का सहारा ले खड़ी हो गयी।

"मैं आऊँ?" उसने पूछा।

"नहीं, ठीक है। मैं चली जाऊँगी।" लक्ष्मी ने धीरे-धीरे अपनी साड़ी सँभाली और बाहर को चल पड़ी। "सुनो जरा उस डिब्बे में कुछ पैड हैं, एकाध दे देना तो।" दरवाजे पर पहुँचकर उसने कहा, और खड़ी हो गयी।

"क्यों क्या···?"

"शायद 'ब्लीडिंग, हो रही है।"

बल्ब के पीले प्रकाश में शब्द गूँजने लगे—किसी अंधे कुएँ से लौटती आवाज से। वह एक झटके से खड़ा हो गया। चार दिन पहले, जब वह उसे दाखिल करवाने गया था, खरीदे सैनटरी पैड के डिब्बे से बाकी बचे दो-एक पैड निकाल उसने लक्ष्मी को पकड़ा दिये और वहीं दरवाजे पर इन्तजार करने लगा। ठंड ऐसी कि समय ही जम गया। न जाने वह कब लौटी और कब वह पीछे-पीछे कमरे में आया।

लक्ष्मी ने आकर तकिये को दीवार से लगाया और सहारा लेकर पैर सीधे कर बैठ गयी। फिनाइल और दवाओं की सीलन भरी अस्पताली गंध हौले-हौले फिर उसके दिमाग में भरने लगी।

"लेट जाओ," इशरत ने उसे कंबल से ढकते हुए कहा। देर तक अपने ही शब्द उसके कानों में कुछ इस तरह बजते रहे, जैसे दूर कोई बड़बड़ा रहा हो, अपने आप।

"बत्ती बुझा दो।" लक्ष्मी ने थकी आवाज में कहा और आँखें बन्द कर लीं।

"तबीयत कैसी है?" स्विच ऑफ होने की आवाज के साथ ही अँधेरा

छा गया। कुछ देर बाद धीरे-धीरे झिरियों से आते प्रकाश ने दोनों को आकार दे दिया। उसका प्रश्न पठार-सी खामोशी में कहीं खो गया। रात के सन्नाटे को माता के जगराते में गाये जा रहे गीत के स्वर इस तरह खौफनाक बना रहे थे जैसे पहाड़ों में, अँधेरी रातों में, गीदड़ का रोना घाटी को देर तक गुंजाता रहता है। इस खौफनाक आवाज से बचने के लिए उसका दिल हुआ कानों को बन्द कर ले।

इशरत ने हाथ से उसके सर को सहलाते हुए कहा, "सो जाओ लक्ष्मी।"

वह अब भी चुप रही।

हौले-हौले उसकी नाक सूं-सूं की आवाज से बजने लगी। ठंड तो नहीं लग गयी होगी, इशरत ने सोचा। वह अपने पल्लू से देर तक नाक पोंछती रही।

उसे कुछ शक हुआ।

"लक्ष्मी ? क्या हुआ लक्ष्मी ? तुम रो रही हो ?" और उसने दोनों हाथों में थाम उसका चेहरा देखना चाहा।

धीरे-धीरे सुबकियों के स्वर से कमरा भरने लगा।

"क्या हुआ, बोलो ना, क्या हुआ ?" वह घबराया।

कोई बंध अब सक्षम नहीं था, भीतर की बाढ़ को थाम पाने में। एक ही झटके में सारे अवरोध बह गये। लक्ष्मी ने उसे कसकर पकड़ लिया और उसकी गोद में मुँह छिपा लिया। उसके रोने का स्वर बढ़ने लगा। वह उसे सहलाता रहा पर सांत्वना के दो शब्द भी नहीं जुट पा रहे थे। न जाने कब स्वयं ही लक्ष्मी ने रोना बन्द कर दिया। वह फिर से सीधी बैठ गयी।

उसके होंठ फड़फड़ाये, "आया···" उसने कहने की कोशिश की, "आया कह रही थी···" उसका गला फिर रुँध गया।

"क्या कह रही थी···?" इस बार इशरत ने पूछा। वह आतंकित हो उठा था।

"तुमने ऐसा क्यों किया। पहला बच्चा···" उसकी आवाज फिर अटकी, "लड़का था···हमें ऐसा नहीं करना चाहिए था।" और वह सिस-कने लगी हल्के स्वर में, जो एक लय में बदलने लगा था।

(1981)

हल

उम्मेदसिंह खेतों को पार करता हुआ जैसे ही गाँव में प्रविष्ट हुआ उसकी नजर सीधे भागुली के मकान के बाहर की भीड़ पर पड़ी। स्थिति की गम्भीरता के आभास मात्र ने उसे उद्वेलित कर दिया। पटाँगण के भिड़े पर बैठे लोगों में एक हल्की-सी हलचल हुई। कोई उठकर उसके नज़दीक आया और कुछ कहता हुआ, जो उम्मेदसिंह की समझ में बिल्कुल नहीं आया, सीधे सीढ़ियों से 'मलखन' में ले गया।

कोने में शिबिया लिटाया हुआ था। एक मैली और बहुत ही पुरानी रजाई से, जिसकी रुई जगह-जगह गोला बन गयी थी, उसे कस कर ढका हुआ था। साथ ही गाँव की कुछ औरतों के बीच भागुली बैठी थी। भागुली ने सिर्फ एक बार उम्मेदसिंह की ओर देखा और फिर डाक्टर हीरावल्लभ, आर० एम० पी० को देखने लगी, जो इंजेक्शन लगाने की तैयारी कर रहा था। निहोणी के धीरे-धीरे होनी में बदलते जाने की सम्भावना से वातावरण इतना बोझिल था कि सामान्य शब्द भी कानों में इस तरह टकरा रहे थे जैसे आतंक से भरी कोई चीख। वह भी औरतों से थोड़े फासले पर बैठ गया। शिबिया की इकहरी साँस पूरे मलख़न में इस तरह काँप रही थी जैसे रिकार्ड की सुई खाली लीक पर घर्र-घर्र करने लगती है। उम्मेदसिंह ने हौले से उसके माथे को छुआ। शिबिया ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। उसकी हालत ने उम्मेदसिंह को बेचैन कर दिया। भागुली के बच्चों में शिबिया उसे सबसे प्यारा था। दिल हुआ कहे, 'शिबिया, कैसा है रे?'

तभी भागुली ने कहा, "ओ शिबि, देख तेरे मामा आये हैं।" पर

शिबिया की आँखों की पुतलियाँ कहीं थम नहीं रही थीं। भागुली का गला भर आया। डबडबा आयी आँखों को उसने चुपके से पोंछ लिया।

इकहरी सांसों के बीच का अंतराल बढ़ रहा था। शिबिया का सांवला रंग कुछ ज्यादा ही गहरा हो गया था। वह रोज की अपनी स्काउटिंग वाली गंदी और जगह-जगह स्याही लगी खाकी कमीज ही पहने था। सदा काले रहने वाले उसके होंठ सूखे और कुछ सूजे-से नजर आ रहे थे। उम्मेदसिंह को यह तो पता था कि शिबिया भी गांव के लड़कों की तरह ही बीड़ी-सिगरेट के सुट्टे लगाता है, जिससे उसके होंठ ही नहीं, दांत भी बदरंग हो गये थे, पर बाएँ गाल का निशान उम्मेदसिंह आज पहली बार देख रहा था। आंख के ठीक बगल से नीचे जबड़े तक खिंचे इस निशान से पूरा चेहरा किसी ऐसे उम्रदराज आदमी-सा रूखा और कठोर लग रहा था, जिसे बीमारी ने अजीब तरीके से विकृत और असहाय कर दिया हो।

निशान के बारे में वह अपनी जिज्ञासा दबा नहीं पाया। भागुली ने उसे किसी तरह बतलाया, "सुबह बैल लेकर जा रहा था······"

फौरन सब कुछ समझ गया उम्मेदसिंह। बच्चा ही तो है बेचारा। इसने अँधेरे में ही उठा दिया होगा। ऊँघता जा रहा होगा, कहीं गिर गया। उसे भागुली पर अचानक गुस्सा आ गया। कैसी निर्दयी है यह औरत। मां है या दुश्मन। अरे, न बाहे जाते दो खेत तो कौन-सा प्रलय हो जाता। वैसे ही साली जमीन कौन-सी सोना उगल रही है। साले चौदह साल के बच्चे को ऐसे दौड़ाते हैं, जैसे कोई अपने बैल को भी नहीं दौड़ाएगा। बाप साला हर समय हाय पैसा! हाय पैसा! करता फिरता है, ये नहीं कि हल ही 'बाने' आ जाता दो दिन के लिए! साली छुट्टी भी तो मिलती होगी, ऐसी भी क्या नौकरी ठहरी।

वह अभी सोच ही रहा था कि उसका ध्यान डाक्टर की ओर गया, और विचार-शृंखला वहीं ठहर गयी।

इंजेक्शन देने के लिए शिबिया का हाथ सीधा करते हुए डाक्टर कह रहा था, "नस में सुई लगा रहा हूँ। इसके बाद फौरन रानीखेत अस्पताल ले जाना होगा," बात उसी को लक्ष्य करके कही जा रही थी, "अब अगर

यहाँ ग्लूकोस चढ़ाने का इन्तजाम हो जाता तो शायद······"

डाक्टर की बात पूरी भी नहीं हो पायी थी कि शिबिया ने एक जोर की साँस ली और चुप हो गया। डाक्टर ने हड़बड़ाकर इंजेक्शन एक ओर रखा और स्टैथस्कोप उठाकर कभी नाड़ी और कभी छाती टटोलने लगा। काफी उठक-पटक के बाद अन्ततः उसने कानों से स्टैथस्कोप की नलियाँ हटा लीं। शिबिया की एक ओर को लटक आयी गर्दन को सीधा किया और स्थिर हो आयी आँखों की पुतलियों को अँगुली से बन्द कर बाहर आ गया।

उम्मेदसिंह की समझ में कुछ नहीं आ रहा था, यह सब इतनी जल्दी कैसे और क्यों हो गया। जब घर से चला था तब उसे कल्पना में भी आभास नहीं था कि वह जहाँ जा रहा है, वहाँ एक दुर्घटना सिर्फ उसी की प्रतीक्षा में है। उसने तो इतना भर सोचा था कि कोई बच्चा बीमार होगा और पैसे की किल्लत और अकेले होने की वजह से भागुली घबरा गयी होगी।

कई घंटे बाद श्मशान से लौटते हुए उसने सारी बातें सिल-सिलेवार समझने की कोशिश की थी। शिबिया सुबह हल लगाता था, दिन में घर के दूसरे छोटे-मोटे काम करता, और फिर रात को दो मील दूर जाकर देर तक रामलीला देखता। ठण्ड बढ़ने लगी थी। कपड़ों के नाम पर स्काउटिंग की स्कूली खाकी कमीज और पैंट के अलावा एक कई साल पुराना बाप का उतारा स्वैटर भी था जो उसके शरीर पर सारे साल ऐसे झूलता रहता, जैसे चिड़ियों को डराने के लिये बनाये गये बिजूका पर कपड़ा झूलता है। ठण्ड लगी होगी और उसने छाती पकड़ ली। ऐसे में डबल निमोनिया न होता तो क्या होता। उसका मन दुख से कुछ इस तरह बोझिल हो गया कि गाँव की चढ़ाई अंतहीन और असम्भव-सी लगने लगी।

घर पर पता चला भागुली को रोते-रोते गश आ गया है। घंटे भर से होश नहीं हैं। पर घंटा काफी लम्बा साबित हुआ। अगले दो दिन तक वह लगातार बेहोश रही, जब कभी जरा भी होश में आती, शिबिया को

पुकारने लगती। भागुली की बेहोशी से घबराकर दूसरे दिन उसने डूंगर-सिंह को तार कर दिया था। शायद कल-परसों तक आ पहुँचे। पर अब लगता है कि जैसे गलती हो गयी हो। आज भागुली सुबह से काफी ठीक थी और बीच में एक बार होश आने पर काफी देर ठीक-ठाक बातें करती रही थी। डाक्टर हीरावल्लभ आये थे। देखकर बोले, "ठीक है अब! चिन्ता की कोई बात नहीं। बस सोने की दवा दे रहा हूँ, शाम तक बिल्कुल चंगी हो जाएगी।"

बीच में जब भागुली की तंद्रा टूटी थी तो वह उसके पास जा बैठा था। धीरे-धीरे उसने ढाढस बँधाना शुरू किया, "अब ऐसे कहीं चलता है भला। बाल-बच्चों का मुँह देख। हिम्मत हारने से जिन्दगी नहीं चलती है।"

वैसे भी गाँवों में बच्चों का मरना कोई असामान्य बात तो थी नहीं। स्वयं भागुली के ही न जाने कितने बच्चे मरे थे, पर उसके इस तरह बेसुध हो जाने से ही शायद लोग कुछ हैरान थे। रह-रहकर समझाते, अभी तो तेरे तीन बेटे हैं, उन्हें देख। फिर बच्चों का क्या है, जान बची चाहिए और हो जाएँगे, कौन-सी उम्र निकल गयी है।

कहने को तो उम्मेदसिंह भी कह गया कि धीरज रखना चाहिए पर वह लोगों की इस तरह की बातों से स्वयं ही हिल जाता है। ठीक है, और पैदा हो सकते हैं पर चौदह साल का पाला-सैंता जवान-जबान बेटा तो नहीं मिल सकता। वह जानता था, शिबिया से भागुली को कितना प्यार था। वह उसका पहला बच्चा ही नहीं था; जाने-अनजाने परिवार का मुखिया भी हो गया था। दो साल पहले शिबिया ने उसी के सामने हल बाहना सीखा था और तब वह सब कुछ खेल-खेल में ही हो गया।

उस दिन शिबिया ने मुश्किल से किसी तरह दो-तीन चीरे मारे थे और शाम तक उसके छोटे-छोटे हाथों में 'डम्फू' जैसे छाले पड़ गये थे, पर अगले साल जब वह भागुली का हल का काम निबटाने आया था तो अगली सुबह शिबिया उसके उठने से पहले ही बैल लेकर निकल चुका था और जब तक वह पहुँचा आधा खेत बाह चुका था। उसने दूर ही से देखा: पतला-दुबला मरियल-सा लड़का जिसका कद उठ नहीं पा रहा था, बैलों

की तो बात रही दूर, हल के मूठ के पीछे ही छिप गया था, पर फिर भी न जाने कैसे और कब, बैल साधना सीख गया था। "रौ, रौ रे खैरा रौ। रौ रे चनिया, रौ।" बच्चे के मुँह से निकले शब्द सुबह के स्वच्छ और भीगे वातावरण में, जब धूप ओस पड़े पेड़ों पर जगमगाती है, ऐसे गूंज रहे थे जैसे कोई तबले पर हौले-से यूं ही थाप मार दे रहा हो—कच्चे हाथों की थाप—जो तबले से अधिक हाथों की कोमलता को वातावरण में भर देती है।

उम्मेदसिंह ने नजदीक पहुँचकर एक खेत को देखा और शिविया को गले लगा लिया था।

"क्यों रे, भारत का नक्शा बना रहा है क्या?" मामा ने भानजे के सर को थपथपाते हुए पूछा था। एक तो वैसे ही पहाड़ी खेत बांका-तिरछा, ऊपर से आड़े-टेढ़े पड़े हल के चीरे। पर उम्मेदसिंह भाव-विभोर हो गया था, उस दिन। घर लौटकर उसने भागुली से कहा था, "भागुली अब अपने दुख के दिन खत्म समझ। ऐसा होनहार बेटा किसी-किसी के घर होता है।"

बड़ी खोटी किस्मत लेकर पैदा हुई ये छोकरी, उम्मेदसिंह सोचने लगा। डूंगरसिंह के घर की हालत कभी अच्छी नहीं रही। 'कड़माव' की खेती और अकेला आदमी। हर साल वह जाड़ों से पहले ही नीचे 'देस' चला जाता है और फिर गेहूँ की कटाई तक ही लौट पाता है। न सास-ससुर न देवर-जेठानी, घर में भागुली खटती है। गाय, बैल, खेती और सब पर साल-दर-साल पैदा होते-मरते बच्चे। उम्मेदसिंह को ठीक याद नहीं कि भागुली के अब कितने बच्चे हैं। क्या तकदीर पायी इसने भी। सबसे छोटी बहन थी तीन भाइयों की। कुछ नहीं तो उससे पंद्रह साल तो चौकस छोटी होगी और लगती कैसी है जैसे पचास लाँघ गयी हो। पचास होने में तो अभी खुद उसे ही कुछ नहीं तो पाँच साल बाकी थे, पर किस्मत इसे ही तो कहते हैं। सारे भाई इसे कितना प्यार करते हैं। हर फसल में कोई न कोई बुवाई-कटाई निबटवा जाता है और डुंगरिया को कभी नहीं लगने दिया है कि वह अकेला है। बस पिछली बार ही से तो ऐसा हुआ था कि उनमें से किसी को हल के लिए नहीं आना पड़ा था। वैसे आये भी तो एक

भागुली को ही कुछ हो जाता और कल को डूंगरसिंह कहता, मुझे बता तो दिया होता, तो क्या मुंह रह जाता उसका।

धूप तापते-तापते न जाने उसे कब झपकी आ गयी थी। बसन्ती ने उठाया, "ममा चहा।"

गिलास सम्भालते हुए उसने पहला सवाल किया, "कैसी है री, तेरी इजा ?"

"ठीक है। चाय पी रही है।"

माँ के स्वस्थ होने की खुशी बसन्ती के चेहरे पर साफ झलक रही थी। पिछले तीन दिन का असामान्य वातावरण और तनाव बच्चों के लिए सबसे अधिक कष्टकर और नुकसान देह सिद्ध हो रहा था। सबके चेहरे कुम्हला गये थे, जैसे बिना पानी के पौधे। इस पर भी सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि बच्चों ने सन्तुलन नहीं खोया था। ये 13 साल की बसन्ती चौबीसों घण्टे अपनी माँ के आसपास छाया की तरह मँडराती रही थी। यद्यपि खाना आस-पास से आ जाता था, पर कब मामा को चाय देनी है और कब हुक्का, बच्चे नहीं भूले थे।

धूप खिसक कर पटाँगण के बिल्कुल नुक्कड़ पर पहुंच गयी थी, जाने से पहले की-बातचीत-सी करती। सामने के पहाड़ पर के पेड़ अन्तिम बार धूप के गले लग रहे थे। पीली धूप इस तरह झिलमिला रही थी, जैसे आँखों में बलात रोके गये पानी की कतरन। उम्मेदसिंह उठकर चाय के गिलास के साथ नुक्कड़ पर ही पहुँच गया।

सामने सीढ़ियों पर रघुवा थैले को रस्सी से बांधने में लगा हुआ था। मुंह तक भरे थैले को बाँधने में उसे काफी मेहनत करनी पड़ रही थी। काम खत्म कर उसने सीधे हाथ की बाजू से नाक साफ की और जैसे ही कमर सीधी की, नजर उम्मेदसिंह से जा मिली। वह हौले से मुस्कराया और बोला, "ममा तुम्हारे लिए बीड़ी लानी है ?"

"कहाँ जा रहा है तू ?" उम्मेदसिंह ने पूछा।

"घट पिसाने। अभी आता हूँ।"

"घट ? इस समय। बीड़ी तो लानी है, पर तू लौटेगा कब।" दो

मील जाना और आना, फिर पहाड़ी पनचक्कियाँ जो घण्टे भर में पाँच किलो अनाज न पीसें। "अरे नहीं इस समय नहीं जाना है घट-वट। आज की रोटी हो जाएगी या नहीं ? नहीं तो किसी से ले ले, कल सुबह चले जाना ?"

"है तो पर···" वह कुछ रुका।

"पर क्या ?"

"कुछ नहीं, मंडुवा है। इजा का कहना है कि···।"

"नहीं, नहीं ठीक है। मंडुवा है तो क्या हुआ ? क्या मैं किसी दावत में आया हूँ।" उम्मेदसिंह झटके से उठ खड़ा हुआ और रघुवा के हाथ से गेहूँ का थैला ले अन्दर चला गया।

"क्यों भागुली कैसी है ?" उम्मेदसिंह ने तनाव को नियंत्रित कर दरवाजे से ही पूछा और थैली को वहीं किनारे रख दिया।

"ठीक हूँ, ददा," कहते हुए भागुली बैठने का उपक्रम करने लगी और उम्मेदसिंह के मना करते-करते भी बैठ ही गयी।

रघुवा पास ही आ खड़ा हुआ था, अपनी माँ के निर्णय की प्रतीक्षा करता। भागुली बाहर की सारी बातचीत सुन ही चुकी थी। "जाने दो ददा, आ जायेगा दिन डूबने तक।"

"अरे नहीं, तू भी क्या बात करती है, क्या मैं मण्डुवा नहीं खा सकता। फिर आज भर की तो बात है, भेजना ही होगा तो कल भेज देंगे सुबह।" वह भागुली को किसी तरह की ठेस भी नहीं पहुँचाना चाहता था।

"अभी चला जाता तो कुछ और भी ले आता। घर में न सब्जी है न तेल !" भागुली ने थके स्वर में कहा।

क्या समय आ गया है, उम्मेदसिंह सोचने लगा। इस साल ऐसा सूखा पड़ गया कि सारी बरसात खेतों से धूल उड़ती रही और सब्जियाँ तक भाभर की खरीदकर खानी पड़ीं। और साल कुछ मिर्ची बेच लेते थे, कुछ सब्जी हो जाती थी, इस साल मिर्ची भी नीचे की ही खरीदनी पड़ रही है। आखिर कोई करे भी तो क्या करे। जिसके एक-दो प्राणी दिल्ली-लखनऊ में काम नहीं कर रहे, उनके पास तो सिवा 'रौ' पड़ने के कोई रास्ता नहीं है।

उम्मेदसिंह को चुप देख भागुली ने कहा, "अच्छा चेला ऐसा करना, पधान के घट पर थैला रख देना और उनसे कह देना कोई आया तो भिजवा देंगे, नहीं तो सुबह ले आना। बाकी सामान अभी ले आना।"

रघुवा इस डर से कि मामा फिर न रोक लें, थैला उठाकर भाग छूटा।

रघुवा के चले जाने के बाद काफी देर चुप्पी छायी रही। अन्त में भागुली ने ही बात शुरू की, "दादा तुमको तो दिल्ली जाना होगा?"

उम्मेदसिंह हर साल जाड़ों में हल बाहने का काम पूरा कर नीचे की ओर चला जाता था। इस बार चूँकि खेतों में कुछ हुआ ही नहीं था इसलिए जुताई भी जल्दी ही शुरू हो गयी थी। वह सोच बैठा था कि काम निबटते ही चल दूँगा। वहाँ कुछ काम-धाम मिल गया तो ठीक, नहीं तो भाइयों के साथ दो-चार महीने रहकर लौट आऊँगा।

"तू मेरी चिन्ता न कर, कौन-सा लाम पर जाना है, चला जाऊँगा। तू बिल्कुल आराम कर?" उम्मेदसिंह ने उसे समझाया।

भागुली कुछ देर चुप रही। फिर बोली, "वो आ ही जाएंगे एक-आध दिन में, तार तो मिल ही गया होगा? अभी तो आधे खेत बाकी हैं।"

"तू चिन्ता न कर, कल से बाकी खेत शुरू करेंगे। अभी कौन-सी देर हो गयी है, और साल तो इस समय काम शुरू ही होता था, हो जायेगा, सब हो जायेगा भुला!" भागुली के बीमार पीले चेहरे पर फैली चिन्ताएँ उससे सहन नहीं हो पा रहीं थीं। उसने फिर आश्वासन दिया, "सब हो जायेगा। अरे डूंगरसिंह नहीं आता, तो क्या तेरे खेत बिन बोए ही रह जाते। मैं तो हूँ, बो करके जाऊँगा।" और उम्मेदसिंह जेब से बीड़ी निकाल कर सुलगाने लगा।

भागुली की आंखें फिर भर आईं थीं। शायद खेतों की याद आते ही शिबिया उसके दिमाग पर छा गया था पर उसने जल्दी ही स्वयं को नियंत्रित कर लिया और कहने लगी, "यह तो रोज का ही रोना है दाज्यू! अब तुम भी अपना घर-बार छोड़कर कब तक लगे रहोगे।"

उम्मेदसिंह ने उसे बीच में ही टोका, "अरे पगली, क्या बातें करती है। तेरे बच्चे बड़े हो रहे हैं, इतने होनहार हैं। एक-आध साल बाद ही

देखना, सब ठीक हो जाएगा।"

अन्दर घुमड़ते आँसूओं से भागुली की आँखों के आगे धुंधला-धुंधला-सा छाने लगा था और काफी देर तक बोलना उसके लिए सम्भव न हो सका। बड़ी देर बाद अपने पल्लू से नाक साफ करते हुए उसने कहा, "दादा, इस रघुवा को सिखा देना थोड़ा-थोड़ा। अब से सीखने लगेगा तो एक-आद साल बाद ठीक से बैल चलाने आ जाएंगे।"

उम्मेदसिंह कुछ नहीं बोला, सिर्फ बीड़ी के कश पर कश मारता रहा। एक बार उसने भागुली की ओर देखा। उसका चेहरा अब बिल्कुल सामान्य और शान्त नजर आया। वह फिर से लेट गयी थी और उसी की ओर देख रही थी।

(1980)

मोहेंजोदड़ो

मैं कुछ कहना चाहता हूँ। नही, कहानी कहने का मुझे शौक नहीं है। ऐसा भी विश्वास नहीं है कि कहानी कोई उदाहरण बन सकती है। कहानियों से आज तक न कोई सुधरा है और न ही सुधरने वाला है। अन्यथा 'महाभारत', 'रामायण', 'इलियड' और 'वार एण्ड पीस' इतने व्यर्थ न साबित होते। सारा साहित्य एक तरह से पाप-मुक्ति का अनुष्ठान है, इसलिए होता रहेगा। दुनिया का अपना तरीका है बनने और बिगड़ने का और इस तरीके में, जो उपलब्ध प्रमाण हैं उनके अनुसार कह सकते हैं कि कोई व्यवधान न तो आया है, और अगर यही लक्षण रहे तो न आयेगा। आप इसे निराशावाद भी कह सकते हैं। पर मेरे लिए है यही सच्चाई। वैसे भी अगर यह कहानी है तो, अजीब कहानी है—अतार्किक और यथार्थ से कटी। इस तरह की कहानी में सुनने वाले की क्या दिलचस्पी हो सकती है, यह मैं जानता हूँ। पर आपको इसे इसलिए सुन लेना चाहिए कि यह सत्य घटना है। पर सत्य होना रोचकता का प्रमाण तो नहीं होता और न ही किसी कहानी की मूल शर्त। कोई भी कहानी जब तक आपका उससे कोई सीधा सरोकार न हो, किसी में कैसे रुचि पैदा कर सकती है?

क्या आप बता सकते हैं कि सन् 1945 की छह अगस्त को क्या हुआ था? आप मुझ पर टीवी के 'क्विज' कार्यक्रमों का असर कह सकते हैं। अब इस असर से बचा भी तो कैसे जाए? पर मेरा सवाल अपनी जगह है। सन् 45 में संभव है आपके माँ-बाप का विवाह भी न हुआ हो या आप भी मेरी ही तरह तब तीन माह का भ्रूण रहे हों, अपनी माँ के गर्भ में सुरक्षित और निश्चित। मैं पहेलियाँ नहीं बुझा रहा हूँ। वह शताब्दी की भयानकतम

घटना थी। संभवत: मानव इतिहास की। आदमी की नृसंशता और वहशीपन का नया कीर्तिमान।

जैसे आज तक युरिको नहीं जानती कि उस दिन क्या हुआ था, उसी तरह कल तक मुझे भी नहीं पता था कि उस दिन क्या हुआ था। संभवत: अगर मैंने युरिको के बारे में नहीं जाना होता और इत्तफाकन मेरा और उसका जन्म दिन एक ही न होता, तो क्या आप समझते हैं मैं उस विभीषिका के सामान्यज्ञान के महत्व से ऊपर उठ पाता? सन् 1946 की 15 अगस्त को मैं पैदा हुआ था, और उसी दिन, संभवत: ठीक उसी समय, युरिको हातानाका भी पैदा हुई। यद्यपि हम एक ही समय और एक ही दिन पैदा हुए थे, इस पर भी हमारे भविष्यों का निर्धारण छह महीने पहले ही हो गया था, छह अगस्त 1945 को।

हजार तो छोड़, कुछ मील दूर होने वाली घटना भी एक सीमा से अधिक हमको प्रभावित करने में असमर्थ रह जाती है (हो सकता है एक तरह से यह अच्छा ही हो अन्यथा हम तो जगह-जगह के दुखों से ही मर जाएँ)। मैं कैसे अपवाद हो सकता हूँ? अंतरालों की, वह चाहे समय के के हों या दूरी के, सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे हमें हर तरह के हादसों से पीडित होने से बचा लेते हैं। पर हादसों की अपनी ही प्रवृत्ति है। वह है स्वयं को दोहराने की किसी प्राकृतिक फैनोमिना-सी, इसलिए गड़बड़ सिर्फ यही है कि हमारी सुरक्षा की भी सीमा है।

बचपन में मैं एक कमजोर और बीमार बच्चा था। बीमार और डरपोक। मेरी लम्बी-लम्बी बीमारी के दौरों में माँ महाभारत और पुराणों की कहानियाँ सुनाया करती थी। राक्षस और दैत्यों के बारे में तभी से विचित्र और भयावह धारणाएँ बन गयीं। उनका आतंक आज भी यथावत है। पर जहाँ तक 'रामचरित मानस' का सवाल है, वह बीमारी के बावजूद सुनने को मिलता था। कारण था माँ का रामायण-प्रेम। माँ की पतली और सुरीली आवाज में तुलसी का कृतित्व रोज सुबह, आम उत्तर भारतीय परिवारों की तरह, हमारे घर भी गूंजा करता था। जैसे-जैसे मैं बड़ा हुआ और स्वस्थ रहने लगा, माँ की आवश्यकता कम पड़ती गयी। साथ ही

रामचरित मानस और महाभारत से नाता टूटता गया। यद्यपि अधिकांश मानस के अंश अब स्मृति में से धुल-पुंछ गये हैं पर कुछ टुकड़े बने हुए हैं—काक्रोचों की तरह अँधेरी दरारों में।

मैं पहले ही कह चुका हूँ, हूँ मैं मूलतः डरपोक। ऐसा नहीं है कि 'मानस' महान रचना नहीं है पर मेरी सहमति की सीमा है। मूलतः मेरी आपत्ति उन प्रसंगों को लेकर थी, जहाँ तुलसी ने अपनी प्रतिभा भयानक और वीभत्स का वर्णन करने में लगायी है। इसका एक और अर्थ भी है। यद्यपि उम्र के साथ मैं शारीरिक रूप से बेहतर होता गया, पर कायरपन से नहीं उबर पाया। डर क्या छोटी बीमारी है ? मेरी मसें फूटने लगीं थीं, तब भी मैं सिनेमा नहीं जाता था। माँ आदतन पौराणिक फिल्में देखती थी—भक्त प्रहलाद, देवता, नागलोक आदि। इनके आधे शेर-आधे आदमी नाग-जो अब चाहते आदमी का रूप ले लेते और दैत्य, जब आँखे तरेरते, मुझे पेशाब आने लगती।

मैं उन प्रसंगों को याद नहीं करना चाहता। ऐसा हो ही नहीं सकता, यही मेरा मानना रहा था। मैं 'मानस' की बात कर रहा हूँ। किसी भी साहित्यिक रचना में दर्शायी गयी हर घटना को यथावत नहीं लिया जा सकता, यह कौन नहीं जानता, फिर कवि कल्पना का क्या भरोसा। कहावत है न, जहाँ न जाये रवि वहाँ जाये कवि। इस पर भी प्रश्न ही नहीं, असहमति भी बनी रही। क्या ऐसा संभव है ? मैं सबसे पूछता रहा हूँ—जैसा कि तुलसीदास ने लिखा है :

"भयउ निमिष महं अति अँधियारा। वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा।"

क्या यह एक तरह का सेंसेशलिजम नहीं है ? संभवतः हर सफल साहित्यिक कृति के लिए एक सीमा तक यह सेंसेशलिजम आवश्यक भी कहा जा सकता है। यानी तुलसीदास भी इन लटकेबाजियों से बचे नहीं रह सके थे। आखिर हैं तो वह भी एक सफल लेखक ही न। माँ हर बार 'मानस' खत्म कर उसे नये सिरे से पढ़ने लगती थी। पर अजीब बात यह थी कि जब भी मैं सुनता, वह पढ़ रही होती :

"नभ चढ़ि बरष विपुल अंगारा..."

दिल होता अपने कान बन्द कर लूं। मैंने कई बार सोचा, माँ से कहूँ,

घटना थी। संभवतः मानव इतिहास की। आदमी की नृसंशता और वहशीपन का नया कीर्तिमान।

जैसे आज तक युरिको नहीं जानती कि उस दिन क्या हुआ था, उसी तरह कल तक मुझे भी नहीं पता था कि उस दिन क्या हुआ था। संभवतः अगर मैंने युरिको के बारे में नहीं जाना होता और इत्तफाकन मेरा और उसका जन्म दिन एक ही न होता, तो क्या आप समझते हैं मैं उस विभी-षिका के सामान्यज्ञान के महत्व से ऊपर उठ पाता ? सन् 1946 की 15 अगस्त को मैं पैदा हुआ था, और उसी दिन, संभवतः ठीक उसी समय, युरिको हातानाका भी पैदा हुई। यद्यपि हम एक ही समय और एक ही दिन पैदा हुए थे, इस पर भी हमारे भविष्यों का निर्धारण छह महीने पहले ही हो गया था, छह अगस्त 1945 को।

हजार तो छोड़, कुछ मील दूर होने वाली घटना भी एक सीमा से अधिक हमको प्रभावित करने में असमर्थ रह जाती हैं (हो सकता है एक तरह से यह अच्छा ही हो अन्यथा हम तो जगह-जगह के दुखों से ही मर जाएँ)। मैं कैसे अपवाद हो सकता हूँ ? अंतरालों की, वह चाहे समय के के हों या दूरी के, सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे हमें हर तरह के हादसों से पीडित होने से बचा लेते हैं। पर हादसों की अपनी ही प्रवृत्ति है। वह है स्वयं को दोहराने की किसी प्राकृतिक फैनोमिना-सी, इसलिए गड़बड़ सिर्फ यही है कि हमारी सुरक्षा की भी सीमा है।

बचपन में मैं एक कमजोर और बीमार बच्चा था। बीमार और डरपोक। मेरी लम्बी-लम्बी बीमारी के दौरों में माँ महाभारत और पुराणों की कहानियां सुनाया करती थी। राक्षस और दैत्यों के बारे में तभी से विचित्र और भयावह धारणाएँ बन गयीं। उनका आतंक आज भी यथावत है। पर जहाँ तक 'रामचरित मानस' का सवाल है, वह बीमारी के बावजूद सुनने को मिलता था। कारण था माँ का रामायण-प्रेम। माँ की पतली और सुरीली आवाज में तुलसी का कृतित्व रोज सुबह, आम उत्तर भारतीय परिवारों की तरह, हमारे घर भी गूंजा करता था। जैसे-जैसे मैं बड़ा हुआ और स्वस्थ रहने लगा, माँ की आवश्यकता कम पड़ती गयी। साथ ही

रामचरित मानस और महाभारत से नाता टूटता गया। यद्यपि अधिकांश मानस के अंश अब स्मृति में से घुल-पुंछ गये हैं पर कुछ टुकड़े बने हुए हैं—काक्रोचों की तरह अँधेरी दरारों में।

मैं पहले ही कह चुका हूं, हूं मैं मूलतः डरपोक। ऐसा नहीं है कि 'मानस' महान रचना नहीं है पर मेरी सहमति की सीमा है। मूलतः मेरी आपत्ति उन प्रसंगों को लेकर थी, जहां तुलसी ने अपनी प्रतिभा भयानक और वीभत्स का वर्णन करने में लगायी है। इसका एक और अर्थ भी है। यद्यपि उम्र के साथ मैं शारीरिक रूप से बेहतर होता गया, पर कायरपन से नहीं उबर पाया। डर क्या छोटी बीमारी है? मेरी मसें फूटने लगी थीं, तब भी मैं सिनेमा नहीं जाता था। मां आदतन पौराणिक फिल्में देखती थीं—भक्त प्रह्लाद, देवता, नागलोक आदि। इनके आधे शेर-आधे आदमी नाग-जो अब चाहते आदमी का रूप ले लेते और दैत्य, जब आंखें तरेरते, मुझे पेशाब आने लगती।

मैं उन प्रसंगों को याद नहीं करना चाहता। ऐसा हो ही नहीं सकता, यही मेरा मानना रहा था। मैं 'मानस' की बात कर रहा हूं। किसी भी साहित्यिक रचना में दर्शायी गयी हर घटना को यथावत नहीं लिया जा सकता, यह कौन नहीं जानता, फिर कवि कल्पना का क्या भरोसा। कहावत है न, जहां न जाये रवि वहां जाये कवि। इस पर भी प्रश्न हां नहीं, असहमति भी बनी रही। क्या ऐसा संभव है? मैं सबसे पूछता रहा हूं—जैसा कि तुलसीदास ने लिखा है:

"भयउ निमिष महं अति अँधियारा। वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा।"

क्या यह एक तरह का सेसेमालिज्म नहीं है? संभवतः हर महान साहित्यिक कृति के लिए एक सीमा तक यह सेसेमालिज्म आवश्यक भी कहा जा सकता है। यानी तुलसीदास भी इन लटकेबाजियों से बचे नहीं रह सके थे। आखिर हैं तो वह भी एक सफल लेखक ही न। तो हर बार 'मानस' पाठ पर इसे नये सिरे से पढ़ने लगती थी। पर [illegible] बात यह थी कि [illegible] भी मैं सुनता, पर पढ़ नहीं होती:

"नभ चढ़ि [illegible] बिपुल [illegible]..."

दिल होता अपने कान बन्द कर लूं। मैंने कई बार सोचा, मां

तेरा यह लंका-काण्ड कव खत्म होगा ? पर यह तो था नहीं कि माँ लगातार लंका-काण्ड पढ़ रही हो, इसलिए ऐसी वेहूदी वात पूछने का भला कोई अर्थ था। जुगुप्सा पैदा करने वाले इन प्रसंगों से मैं वचना चाहता था, पर कुछ दिन वाद मैंने पाया अगर मैं कान वन्द भी कर लूँगा तो भी ये मुझे सुनायी देने लगे हैं। तव समझ में आया, ये चौपाइयाँ मेरे दिमाग में अनचाहे ही रिकार्ड हो चुकी हैं।

हम लोग कब्र नहीं वनाते। समाधियाँ कभी सन्तों की होती थीं, अव नेताओं की वनती हैं। हमारी परम्पराएँ भिन्न हैं। मैं सामान्य आदमियों की वात कर रहा हूँ। सिर्फ श्राद्ध होता है हमारे यहाँ, इसलिए हमें—मुझे और मेरी पत्नी को—हर रविवार कब्रिस्तान नहीं जाना पड़ता। हम साल भर में उन्हें याद कर सकते हैं, जो कभी थे। और फिर जो मर गये उन्हें हर वक्त याद करने का अर्थ ?

साल हो रहा है।

अक्तूवर इसी तरह खत्म हो रहा था। रामलीलाएँ हो चुकी थीं। पात्रों की दस दिन की लीला और वीस दिन की रिहर्सल की थकान लगभग मिट चुकी थी। मोहल्ले के वच्चे वास्तविक लोगों को पौराणिक नामों से पहचानने लगे थे। हर साल की तरह राम और रावण ही उनके प्रमुख प्रिय पात्र थे। अनिल ने रावण चुना था। और वह लगातार उसी रोल में घूम रहा था। दशहरे के दिन की उसकी लकड़ी की तलवार यद्यपि तव तक टूट चुकी थी, पर मूँछें अभी भी उतनी ही ताजा थीं, जितनी कि दशहरे के दिन रही होंगी। मुझे अपने वेटे की नकली मूँछों पर वड़ा मजा आता था। मर्दानगी के प्रति उसके जवर्दस्त लगाव का मैं कायल हो चुका था। यह लड़का वीर वनेगा, मैंने एक रात अकेले में उसकी माँ से कहा था। वह सिर्फ मुस्करायी भर थी और करवट वदल कर सो गयी। उसकी मुस्कराहट की चमक अँधेरे में इस तरह कौंधी जैसे किसी गुफा में टार्च। मैं भाव-विभोर था, इसलिए कह नहीं सकता उस मुस्कराहट में खुशी थी या व्यंग्य। मैंने लेटे-लेटे ही निर्णय किया था कि अनिल को एक वढ़िया तलवार ला दूँगा। होगी वह नकली, पर लगेगी विल्कुल असली जैसी।

अगले दिन ही वह हादसा हो गया।

हुआ यह कि अनिल ने अपने छोटे भाई अरुण के पेट में वह पुरानी तलवार भोंक दी। छोटे की किस्मत कि तलवार ने पेट नहीं फोड़ा, बाकी सब कुछ कर दिया। जब हमने अनिल को डाँटा तो वह कहने लगा, बाबूजी रावण तो अपनी तलवार चलायेगा ही, अब बचना तो आपका काम है न! छोटा लगभग अधमरा हो चुका था। उस समय गुस्सा तो बहुत आया, पर बाद में छोटे को डाक्टर के पास ले जाते हुए मुझे लगा कि बात तो भाई गलत नहीं है। अरुण कई दिन तक दर्द से ही नहीं कराहता रहा, बल्कि इतना आतंकित हो गया कि उसने अनिल के डर से स्कूल ही जाना छोड़ दिया। उस समय मुझे लगा था कि छोटे का आतंक आधारहीन है। हमने उसे कई तरीके से समझाया, पर उसका आतंक नहीं गया। पर जल्दी ही समझ में आ गया कि छोटे का डर निराधार नहीं था।

मुश्किल से दो-एक दिन गुजरे होंगे, एक शाम जब मैं घर लौटा, कोहराम मचा हुआ था। हाथ-पैर बंधा रावण एक कोने में पड़ा गुर्रा रहा था। उनकी माँ गुस्से में पगलायी हुई थी। बिना किसी भूमिका के कहने लगी, "तुम्हारा बेटा राक्षस है और रावण ही बनेगा।"

मैं हँसा था, "रावण बनने से कोई रावण थोड़े ही हो जाता है।"

"सिर्फ राक्षसों के लिए रावण आदर्श होता है और तुम्हारा बेटा राक्षस बनेगा, अपने स्वार्थों के लिए दूसरों की हत्या करने वाला।"

जितना क्रोध उनकी माँ के स्वर में था, लगभग उतनी ही घृणा से अनिल ने कहा, 'तुम्हारा बेटा विभीषण बनेगा।"

"विभीषण रामभक्त था। धार्मिक आदमी था, राक्षस नहीं," उसकी माँ ने जवाब दिया था।

"हर-दगाबाज़ दुश्मन के लिए आदर्श व्यक्ति होता है," अनिल ने कहा था।

माँ-बेटे के संवाद पर मुझे बहुत हँसी आयी थी। यद्यपि मैंने मामला रफा-दफा करवा दिया, पर उसकी माँ ने उसे माफ नहीं किया। बात छोटी भी नहीं थी।

अनिल ने कुछ किया था, जिसका सुराग अरुण ने माँ को दिया था। माँ ने अनिल के कान खेंचे और बदले में अनिल ने छोटे के पेट में दुबारा

तलवार मारी थी। इस पर माँ ने उसकी जम कर धुनाई ही नहीं की, बल्कि उसकी टूटी तलवार भी फेंक दी और रस्सी से बाँधकर तब तक के लिए उसे डाल ही दिया था जब तक कि वह अपने किये पर नहीं पछताता और माफी नहीं माँग लेता। पर वह टस से मस नहीं हुआ और बँधा रहा। अंततः मुझे उसे बिना माफी माँगे ही छुड़वाना पड़ा था। अहं और दम्भ उसमें आश्चर्य की हद तक बढ़ गया था।

अक्तूबर की आखिरी रात और नवम्बर की पहली सुबह के बीच की बात रही होगी। इस काण्ड के ठीक दो दिन बाद घटना ने नया ही रूप ले लिया। सोये-सोये मेरे कानों में वही चौपाई बजने लगी थी, जिससे मैं बचता रहा था :

नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा, महि ते प्रगट होहिं जलधारा।
नाना भाँति पिसाच पिसाची, मारू काटु धुनि बोलहिं नाची।
बिष्टा पूय रुधिर कच हाड़ा, बरषई कबहुँ उपल बहु छाड़ा।
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा, सूझन आपन हाथ पसारा।

मैं हड़बड़ा कर आँख मलता उठा था।' बाहर वाकई अँधेरा था। 'बचाओ-बचाओ,' 'मारो-मारो' की पृष्ठभूमि में ही मैंने पत्नी से पूछा, "क्या सवेरा नहीं हुआ?"

"सवेरा तो कब का हो चुका है, देख नहीं रहे हो यह धुआँ है।"

"तुम्हारा मतलब है, नवम्बर की शुरूआत हो चुकी है?" मेरी शंका बनी हुई थी।

"हाँ, आग लग गयी है।" पत्नी ने उदास स्वर में कहा था। पर वह चिन्तित क्यों नहीं थी, वह मैं जान नहीं पाया था। अचानक उसने पूछा, "महीने से क्या अन्तर पड़ता है?"

"हाँ, महीने से क्या अन्तर पड़ता है।" मैंने दोहराया था। अगस्त भी तो वर्षा का महीना हुआ करता है न?

इस बार वह कुछ नहीं बोली। उसकी देखा-देखी मैं भी सक्रिय हो गया था। आग वाकई खतरनाक होती है। हमने दावानल में फँसे पक्षी की तरह अपने बच्चे समेटे। अनिल नहीं था। हम छटपटाये थे और बाट जोहने लगे थे। आग अब भी नजर नहीं आ रही थी, पर धुआँ बढ़ता जा

अचानक चट्टान की तरह खिसक कर शोर दरवाजे पर आ खड़ा हुआ। मैंने घबराकर दोनों कानों से हाथ ढक लिये। जब हाथ हटाये तो बड़े जोर से दरवाजा भड़भड़ा रहा था। दरवाजा खोला तो अनिल था।

"तुम," मेरी खुशी का पारावार नहीं था। मैं कृतज्ञ था—एक कायर पिता।

"हाँ मैं !" उसके स्वर ने मेरे अन्दर वैसा आतंक पैदा कर दिया जैसा बचपन में राक्षस की भूमिका करने वाले पात्र कर दिया करते थे। तुम्हारी आवाज को क्या हो गया है ? मैं पूछना चाहता था, पर उसके हाथ की असली तलवार के आगे हिम्मत नही कर पाया। क्या किसी बच्चे की आवाज रातों-रात इस तरह बदल सकती है ? क्या होगी इसकी आयु ! मैंने जल्दी-जल्दी अन्दाज लगाया था। कुछ भी हो अभी वह उस उम्र में नहीं पहुँचा था जब लड़कों की आवाज चौंकाने वाली तेजी से बदलती है।

वह रावण के साथ था—असली रावण का अभिनय करने वाले के साथ।

"तुम कहाँ थे ?" मैंने पूछा।

"जब देश और जाति पर संकट होता है तब युवकों को बाहर निकलना ही पड़ता है।"

"क्या मतलब ?" मैंने लगभग चीखकर कहा। रावण की आवाज सुनते ही मैं आपे में नहीं रह पाया। प्रश्न मैं अपने बेटे से पूछ रहा था और जवाब दे रहा था यह रावण की औलाद।

"चीखिए मत।" यह अनिल था, मेरा बेटा, जो बहुत ही ठंडे और निर्मम स्वर में बोल रहा था जैसे कोई अपने मातहत को डाँट रहा हो। क्या यह वही बेटा है जो दो दिन पूर्व तक मेरी एक आवाज पर पेशाब कर देता था।

"क्या मैं अपने बेटे से कुछ पूछ नहीं सकता ?" इस बार मैंने खून का घूँट पीकर सीधे रावण से ही प्रश्न किया था।

"यह देश का मामला है।" हिकारत से रावण ने कहा था, "ऐसे में कौन किसका बेटा कौन किसका बाप। आप को पता नहीं, देश संकट में है। इन बातों का फैसला करने का आज समय है किसके पास !"

"हर आवारा और उचक्के से मुझे देश के बारे में नहीं सीखना है।" मैंने भी जवाब दिया था।

"देश के बारे में आप किसी भी उस आदमी से सीख सकते हैं और आपको सीखना होगा, जो देश को लेकर चिंतित है।"

"तो आप वह आदमी हैं ?" मैंने व्यंगात्मक लहजे में कहा।

"आपका बेटा भी।" रावण ने उतने ही विश्वास से जवाब दिया।

"तुमने जनम भर न पढ़ा न लिखा और अब इन लड़कों को भी वही सिखाना चाहते हो।" मैं चीखा।

"गांधी जी ने क्या किया था ? 1942 में क्या हुआ था ? क्या तब बच्चों ने देश के लिए स्कूल-कालेज नहीं छोड़े थे ? पढ़ के ही ऐसा क्या होने वाला है।"

"पढ़ना उचक्कों का काम नहीं है। तुम्हें क्या पता पढ़कर क्या होता है। तुमने पढ़ा होता तो इतने वर्षों से तुम रावण नहीं बन रहे होते।"

"राम बन गये होते ! क्या फर्क है राम और रावण में ?"

"यह अंतर तुम नहीं समझ सकते। रावण को अभिनित करने वाले के लिए राम भी बस एक पात्र ही होता है। बेवकूफ रावण, राम पात्र नहीं, एक आदर्श है, जिसे हमें जीना होता है और रावण एक ऐसा पात्र है जिससे हमें बचना है।"

यह सुनकर वह हँसा था ठट्ठाकर, "हा, हा, हा, आदर्श, हा, हा, हा, किसने मना किया है, जियो आदर्श को। पर आदर्श कैसा यह जान लो। एक ऐसा आदर्श जो दूसरे की औरतों की नाक काटने को एक महान काय मानता है, क्यों ?"

"औरत नहीं छिनाल औरत।" मैंने कहा।

वह फिर हँसा, 'हा, हा, हा' के अट्टहास में, "कैसी औरत ? छिनाल औरत ! कौन करेगा फैसला छिनाल कौन है ? कुछ भी हो यह देश हमारा भी है और हमें इसकी रक्षा करने से कोई नहीं रोक सकता !"

"बकवास मत करो !" मैं भी चीखा," साली सरकार क्या मर गई है जो देश-रक्षा की जिम्मेवारी तुम सरीखे गुंडों के हाथ आ गई है।"

"क्या होती है सरकार ? क्या आकाश से आती है और फिर मान लो

है भी तो क्या हमें अपनी नागरिक जिम्मेदारियाँ भी नहीं पूरी करनी हैं। जब देश और जाति पर संकट होता है सबको मिलकर काम करना होता है। सबको कुर्बानियाँ करनी होती हैं। तुम्हें पता है इस समय हमारे समाज पर क्या संकट आया हुआ है ? धर्म पर क्या संकट आया हुआ है ? हमारे नेताओं को किस तरह हलाल किया जा रहा है न तुम जैसे अंधे इन बातों को नहीं देख सकते। तुम्हें सिर्फ अपनी चिन्ता है। मेरा क्या होगा ! मेरी बीवी का क्या होगा ? मेरे बच्चों का क्या होगा ?"

"हाँ, हाँ ठीक है। अगर तुम्हें देश की इतनी ही चिंता है तो यहाँ क्या कर रहे हो। जाओ, बचाओ न देश को।" कौन, मुँह लगे सोचकर पिंड छुड़ाने के लिए मैंने कहा था।

इस बार रावण के अट्टहास ने उस सर्वव्यापी अंधी नारकीय आग की चड़चड़ाहट को ग्रस लिया। उस अट्टहास में गाड़ियों के भारी-भारी इंजनों का शोर इस तरह बिला गया जैसे दूध में शक्कर। और इसी अट्टहास के बीच मैंने चीख सुनी थी, एक दर्दनाक चीख, जो अपनी पीड़ा के कारण आत्मा को बेध देती है। कहाँ से आ रही थी वह चीख मेरी समझ में नहीं आ रहा था। पर चीख थी पहचानी हुई। मैंने बाहर झाँक कर देखने की कोशिश की। चीख पृथ्वी की कक्षा में छूट गये किसी टूटे उपग्रह-सी लगातार चक्कर लगा रही थी, उस गहरे अंधकार में भी, जो पिघले शीशे-सा गर्म और गाढ़ा था।

और तभी मैंने देखा था कि वे लोग जा रहे थे देश को बचाने। वे लोग अपने पीछे वह चीख छोड़ गये थे जो लगातार वायुमंडल में घूम रही है, किसी घायल पक्षी की तरह आज भी। मैंने देखा था उन भारी इंजनवाली गाड़ियों के काफिले की अंतिम गाड़ी में अनिल चढ़ा था। रावण के हाथ का सहारा लेकर किसी वीर की तरह। उसने हाथ भी हिलाया था। फिर वह मुस्कराया था मुझे देखकर। उस अंधकार में भी मैंने देखा था किसी टोले की तरह वह हाथ अन्धकार में चमका था।

उसी चमक में मैंने जाना था कि उसके चेहरे पर असमय ही दाढ़ी उग आयी है और उसकी मासूमियत कहीं खो गयी है। संभव है वह अनिल न भी रहा हो, क्योंकि मेरी आँखों के आगे चीख थी, इसलिए चीजों को मैं साफ

नहीं देख पा रहा था। फिर अंधेरा भी था। पर अलविदा में उठाये गये उसके हाथ से झरते रक्त-कणों को मैंने सिर्फ देखा ही नहीं था अपने चेहरे पर भी महसूस किया था। और गाड़ियों के उस भयावह कान-फोड़ शोर में भी मैंने सुना था, उसने विभीषण कहा था, हाँ विभीषण ही कहा था।

उस दिन युरिको की माँ वहीं थी, जिस दिन 'लिटिल बॉय' (कितना विचित्र और कुत्सित है यह नाम—क्या आदमी की विकृति का कोई अंत हो सकता है) नामक अणुबम के विस्फोट ने कुछ ही मिनटों में एक जीते-जागते शहर को मुर्दों के टीले में बदल दिया था। यहाँ तक कि सबसे सुर-सुरक्षित जगह माँ के गर्भ में भी युरिको नहीं बची थी। पिछले चालीस वर्षों में लिटिल बॉय किस तरह अपने शिकारों को तड़पा-तड़पा कर खाता रहा है, यह सब दस्तावेज है। अंततः रेडियो विकीरण से ग्रस्त युरिको की माँ हड्डी के मैरो कैंसर से दिसम्बर, 1978 में मर गयी। इससे पहले उसने जो पीड़ाएँ सहीं उन्हें अलग से बताकर मैं आपका समय बर्बाद नहीं करना चाहता।

पर मैं आपको 39 वर्षीय बच्ची (मेरी छोटी बेटी से भी छोटी) के बारे में कुछ और बतलाने से स्वयं को रोक नहीं पा रहा हूँ। शायद आप लोगों को पता हो युरिको आज भी तीन वर्ष के किसी भी बालक से कुछ ज्यादा नहीं समझती। वह माइक्रोसिफैली है यानी बहुत ही छोटा दिमाग लेकर पैदा हुई थी। ऐसा दिमाग जो कभी बढ़ नहीं पाता। हर रविवार युरिको अपने पिता के साथ माँ की समाधि पर जाती है। समाधि के पत्थर पर कुछ देर वह कान लगाकर सुनने की कोशिश करती है फिर अपने पिता से कहती है, 'कान-कान!'

यानी?

यानी माँ कुछ कह रही है।

हम सब की तरह उसका पिता भी समझदार है। मरे हुए आदमी नहीं बोलते। भले लोग पिशाच भी नहीं बनते। भले लोगों की आत्माएँ भी नहीं भटकतीं, बदला लेने के लिए।

पर मान लो अगर कभी मरे हुए लोग बोल ही उठे ? वे लोग जो निहत्थे थे और निर्दोष थे और मासूम भी, तब वे क्या कहेंगे ?

क्या आप भी यह मानते हैं कि हमें उस दिन की प्रतीक्षा करनी होगी जब निर्दोष और मासूम लोग बोलेंगे, अपनी कब्रों से ?

(1985)

लाजवाब

बच्चीराम 'तहा' (घाटी) की दुकानों से काफी दूर आ चुका था। दमे का शरीर होने के कारण उसका हाल बहुत खराब था और अब एक कदम चलना नंदा देवी की चोटी पर चढ़ने जैसा भारी हो गया था। पर उसके दिमाग में लगातार वही खबर उथल-पुथल मचाये हुए थी, जिसे उसने पधान (प्रधान) की दुकान के अखबार में पढ़ा था। गाँव का आधा ही रास्ता तय हो पाया था। उसके साथ आये लोग कहाँ के कहाँ निकल चुके थे और पीछे आते लोग बिना आपस में एक शब्द भी बोले निकल जाते थे। बच्चीराम के कंधे पर शाम की गाड़ी से रामनगर से आये मोटर की कमानी के दो टुकड़े थे, जो उसने अपने गाँव के एक ड्राइवर से हाथ-पैर जोड़कर मँगवाये थे। इनके भार ने तो उसकी हालत और भी बिगाड़ दी थी। बच्चीराम को अब अपनी व्यर्थ की बहादुरी पर पछतावा हो रहा था। चनिया की माँ ने उससे कई बार कहा था, 'चनिया के बाबू, बस हो गया। तुम्हारे बस का नहीं रहा अब तीन मील नीचे से लोहा-लंगड़ लाना। जब चनिया आ जायेगा, उसे भेज देंगे।' पर वह माना नहीं था। अब चनिया क्या-क्या करेगा। न जाने जंगल से बक्कल (चीड़ के पेड़ की छाल) लेकर कब लौटे! उस पर घन-हथौड़ी भी चलाता है और सुबह उठते ही स्कूल के लिए दौड़ा-दौड़। नहीं-नहीं, मैं चला जाऊँगा। जरा घुमाई भी हो जायेगी, उसने सोचा था। वैसे तहा की दूकानों में जाना सैर जैसी ही हो जाती है। आस-पास के गाँव के लोग इधर-उधर से पंद्रह पैसे की 'अद्धी' चाय पर दुनिया भर की कह-सुन लेते हैं तो कठोर और बंजर पहाड़ी-जीवन की अगली सुबह का सामना करने की हिम्मत कुछ और जुट जाती

है। कभी बच्चीराम अक्सर ही समय निकालकर तहा की दुकानों में आ जाता था और शाम को मौका लगा तो एक-आध मच्छी भी मारकर या खरीद कर ले जाता था, पर अब साँस की वजह से वह आने की हिम्मत बहुत ही कम कर पाता है।

कभी-कभी उसके दिल में आ रहा था कि इन लोहे के टुकड़ों को यहीं कहीं रख कर चला जाये, चनिया या उसकी माँ ले आयेगी। पर इस लोहे को छोड़ पाना उसके लिए संभव नहीं हो रहा था। ऐसा लोहा कई दिन बाद हाथ लगा था। कसानी का लोहा मजबूत होता है और दातुलों और हल के फाल के लिए बढ़िया रहता है। कुछ लोगों ने उससे अच्छे दातुलों की माँग की थी और वह खुद भी कई दिन से चाहता था कि अच्छा लोहा मिले तो जरा दिल से काम करे। ऐरे-गैरे लोहे को पीटने-ठोकने में मजा भी नहीं आता। पर अब उसमें हिम्मत नहीं रही थी। बक्कलों से लोहा तपाना अपनी हड्डियाँ फूंक कर लोहा तपाना है। उत्साह में उसने लोहा मँगा तो लिया था, पर अब उसे कौन तपायेगा, कौन पीटेगा और कौन मोड़ेगा ? है उसके शरीर में इतनी जान ? फिर यह खेल किसके बल पर ? चौदह साल के बच्चे के ही बल पर ना ! इसके बाद आगे उससे कुछ भी सोचा नहीं गया।

बच्चीराम वैसे खानदानी लोहार है। उसके पिता ने भी यही काम किया था, दादा ने भी और परदादा ने भी। अपने पिता से ही उसने लोहारगीरी सीखी थी, यद्यपि वह चाहते थे कि उनका बेटा पढ़-लिख जाये और कोई ऐसा काम कर ले, जिससे पूरी मेहनत के बदले पूरा पेट भी भरे। हाड़-तोड़ मेहनत के बावजूद बच्चीराम को याद है कि शायद ही कोई दिन ऐसा गया हो जिस दिन उनके परिवार का पेट भर पाया हो। पिता से उसे विरासत में लोहारगीरी ही नहीं मिली, यह आधा पेट रहने की परम्परा भी मिली। सच बात तो यह थी कि वे लोग गरीबों के लोहार थे, इसलिए और भी गरीब थे। गाँव में खेती करने वाले लोग वैसे 'जिमदार'(जमींदार) कहलाते थे, पर उनकी जमीन कहने भर को जमीन थी। पहाड़ी ढलानों पर सीढ़ीनुमा खेत पत्थर-कंकड़ों से भरे थे, न सिंचाई की कोई व्यवस्था, न मौसम का कोई भरोसा। लड़के-बेटे मैदानों में बर्तन-भांडे माँजकर या

चपरासीगीरी करके दो-चार पैसे भेज देते हैं तो गाड़ी किसी तरह खिंच जाती है, वरना उनमें और उसमें कोई अंतर नहीं, बल्कि कई अर्थों में वह उनसे बेहतर ही है। गाँव का 'नौला' (पानी का कुंड) आ चुका था। यानी गाँव अब भी मील भर था-सीधी चढ़ाई। शाम के झुटपुटे में गाँव की औरतें-बच्चे पानी से भरे 'फौंले' (गगरियाँ) और कनस्तर उठाये तेजी से घरों को लौट रहे थे। वह सोचने लगा, देखो विकास की कैसी-कैसी योजनाएँ नहीं चलीं, पटवारी-पेशकार, बी० डी० ओ०, ए० डी० ओ०, सहकारी बैंक, रासायनिक खाद न जाने कौन-कौन और क्या-क्या नहीं आया। कभी कहा गया गाँव में गूल (नहर) आने वाली है, कभी सुना गाँव में पीने के पानी का नल लगने वाला है—घर-घर पानी आ जायेगा। पर सब कुछ वहीं का वहीं रहा। उसने इधर-उधर जरा रुककर बढ़ी साँस के कारण आँख में भर आये पानी को पोंछ कर देखा, शायद चनिया या उसकी माँ भी हो। पर उसे कोई नजर नहीं आया। शायद वे पानी ले कर जा चुके हों। कोई होता तो एक लोहे का टुकड़ा ले जाता। वह फिर चलने लगा।

पीछे से एक भारी पद्चाप तथा साँसों की आवाज तेज होती नजदीक आती जा रही थी। बच्चीराम ने जरा ठहर कर मुड़कर देखा। कोई आदमी घास का भारी बोझा लादे चला आ रहा था। एक तो साँझ का झुटपुटा, ऊपर से घास से उस व्यक्ति का चेहरा कुछ इस तरह ढका हुआ था कि धुँए और आग की सतत चमक से असमय खराब आँखों से बहुत कोशिश के बावजूद बच्चीराम से उस घासवाले को नहीं पहचाना गया। और सिर्फ उत्सुकतावश कि देखें कौन आ रहा है, वह वहीं खड़ा हो गया। घासवाला जब बिल्कुल पास आ गया और उसने पूछा, "क्यों बच्चीराम कहाँ से दौड़?" तो वह जान पाया कि अरे, ये तो 'तल बखई' का गुमानसिंह है। थोड़ी देर घास को साथ ही भीड़े पर टिका कर गुमानसिंह खड़ा हो गया और इधर-उधर की सुना, चलता बना। कभी खूब बोलने वाला गुमानसिंह अब किसी से ज्यादा बातें नहीं करता। अकेला-अकेला-सा रहता है, अपने ही बिचारों में खोया।

थोड़ी देर बाद बच्चीराम भी चल पड़ा हौले-हौले।

में फिर कई तरह की बातें आने लगीं। बातें क्या, बातों का सिलसिला, जैसे किसी उलझे धागे के गोले का सही सिरा हाथ आ गया हो। अब देखो क्या हालत हो गयी इस बेचारे की! कैसी अजीब बातें चली थीं तब—फलों के बागों की बातें। विकास के लोगों ने कहना शुरू किया था, पहाड़ी जमीन खेती लायक नहीं है, वहाँ बाग लगने चाहिए—खुमानी, सेब, आड़ू, नाशपाती और भी न जाने क्या-क्या। गाँव के कुछ लोग आ गये बातों में। इस गुमान सिंह ने, जिसके दो भाई दिल्ली में हैं, एक लम्बे-चौड़े टुकड़े पर 'विकास' का ऋण लेकर कमर-कमर तक गड्ढे खोद पेड़ लगाना शुरू किया। पहाड़ी जमीन, एक-एक गड्ढा खोदने में एक-एक दिन लगा और चार-पाच सौ पेड़ रोपे गये। बीच-बीच में विकास के अधिकारी आते, सलाहें देते, कभी कोई खाद बताते, कभी कोई दवा बताते और चले जाते। बाग लगने के कुछ दिनों तक गुमान सिंह बहुत चहकता फिरा—अब मेरा बाग लग गया है। पाँच-छह साल की बात ठहरी। पेड़ फल देने लगेंगे। इस खेती के झंझट से छुटकारा ही हो जायेगा। आराम से किसी मुसलिये को ठेका दिया, आठ-दस हजार रुपये लिये और बैठे रहे। उसकी देखा-देखी कुछ और लोगों ने भी पेड़ लगाये, पर हाय री किस्मत! ठीक उसी साल वर्षा देर से हुई। एक-एक करके पेड़ सूखने लगे। ऊपर से उनमें पड़ी थी रासायनिक खाद। अब पानी कहाँ से लायें? पेड़ों को तो छोड़ो, आदमियों को ही पीने का पानी मिलना दूभर हो गया था। एक ही हफ्ते में सारे के सारे पेड़ ऐसे हो गये—जैसे किसी ने आग लगा दी हो। गुमान सिंह की तो जैसे कमर ही टूट गयी। पाँच-सात हजार के नीचे आ गया। विकास का ऋण भी नहीं चुका सका समय पर और हाल ही में उस चक्कर में एक महीने की सादी कैद की सजा भी काट आया है। अब सिर छिपाने से क्या होगा। फिलहाल फिर बातें चल रही हैं कि बिजली आने वाली है। अबकी न जाने कौन जेल जाने वाला है! बच्चीराम ने काले होते जा रहे आकाश की ओर हताशा में सिर उठाया और फिर गिरा लिया।

यह पिछले तीस-बत्तीस साल की कहानी है। अभी उसने होश सँभाला था

कि सुना, देश आजाद हो गया है। अब हमारा शोषण बंद होगा। सबको समान अवसर मिलेंगे और हर कोई पढ़ सकेगा। गाँधी जी ने पहले ही डोमों को हरिजन बना दिया था और अब छूआछूत कानूनी अपराध हो गया था। उसके बाद आये चुनाव। नेता लोगों ने ऐसे-ऐसे भाषण दिये कि उसके पिता ने बैलों की जोड़ी पर मुहर ही नहीं लगायी एक अजीब आशा भी लगा दी। उन्होंने बचिया को तीन मील दूर के प्राइमरी स्कूल में तख्ती और 'कमेट' का डिब्बा लेकर भेजना शुरू कर दिया। उन्होंने कहा, जब सरकार ने इतना प्रबन्ध किया है तो हमें भी थोड़ी परेशानी उठानी ही चाहिए। उनको पता लग गया था कि हरिजनों को फीस नहीं देनी पड़ती, जरूरी हुआ तो वजीफा भी मिलता है और आगे चल कर उनके लिए सरकारी नौकरियाँ भी सुरक्षित कर दी गयी हैं। अब वह, अगर जरा मेहनत करे, पटवारी तो रहा दरकिनार, कलक्टर तक बन सकता है।

वह तड़के उठता। 'पाटी' (तख्ती) को पोतता और कमेट के डिब्बे में थोड़ा पानी मिलाता, 'बाज्यू' (पिता) से कलम बनवाता, दो बासी रोटी गुड़ की 'कुटक' और बिना दूध की काली चाय में भिगो कर खाता और घुटनों व चूतड़ पर पैबंद लगी पैंट सँभालता अन्य लड़कों के साथ चल देता। स्कूल वैसे अच्छा नहीं लगता था उसे, क्योंकि अक्सर ही पंडित जी चिढ़े रहते और बिना कारण किसी भी लड़के को पीट देते थे। पंडित जी को पाँच कक्षाएँ एक साथ ही देखनी होती थीं और वह आते थे पाँच मील दूर के गाँव से। नतीजा यह होता कि अक्सर ही अपनी कुर्सी पर वह बैठे-बैठे ही ऊँघने लगते या स्कूल ही नहीं आते। जिस दिन पंडितजी नहीं आते, लड़कों के मजे आ जाते। वे कभी रास्ते में हिसालू और किलमोड़े खाते और कभी 'गधेरे' (झरने) में 'हथवी' (हाथ से) से छोटी-छोटी मछलियाँ मारते, जिन्हें वे आग में भून कर तुरत-फुरत खा जाते थे।

इस तरह वह डगमगाता-डगमगाता एक के बाद एक कक्षा पार करने लगा। वह अभी चार या पाँच में पहुँचा ही था कि उसको लगा, चीजें गड़बड़ा रही हैं। अब रोटी कुछ और कम हो गयी। गुड़ की 'कुटक' आधी और उस पर भी अक्सर गायब। सच्चाई यह थी कि एक ओर तो

महँगाई तेजी से बढ़ने लगी थी और दूसरी ओर बढ़ता परिवार, उस पर उसकी किताब-कापियों ने 'बाज्यू' की चूलें ढीली कर दी थीं। पर वह हिम्मत नहीं हारे थे। हाँ, अब उसे भी काम करना पड़ता। वह स्कूल से आकर शाम को पिता का हाथ बँटाता। कभी घन चलाता तो कभी धौंकनी। ऊपर से तीन मील स्कूल जाना और तीन मील आना। नतीजा यह हुआ कि कक्षा में अक्सर वह ऊँघने लगता और थकान से घर में भी पढ़ नहीं पाता था। इसी बीच एक ऐसी घटना घटी, जिसका उसके जीवन में दूरगामी प्रभाव पड़ा। घटना थी प्रदेश के मुख्य-मंत्री का, न जाने कैसे उनके गाँव से आठ मील दूर भिक्यासैण आना। असल में मोटर तब उनके गाँव तक नहीं आयी थी, इसलिए मंत्री जी बेचारे भी वहीं रुक गये थे, जहाँ तक उनको सरकारी जीप आराम से ला सकती थी। वैसे यह भी क्या कम था कि वह इतने ऊबड़-खाबड़ और दूरदराज इलाके में आये थे। उनके आने की खबर सारे इलाके में जंगल की आग की तरह फैल गयी। न जाने कैसी-कैसी तैयारियाँ होने लगीं। इन तैयारियों में वह भी शामिल था। पंडितजी ने कहा कि पाँचवीं और चौथी कक्षा के बड़े-बड़े लड़के स्कूल की तरफ से मुख्यमंत्री जी के स्वागत में जायेंगे। घोषणा से उसे बड़ी खुशी हुई, क्योंकि वह भी पाँचवीं में पढ़ रहा था।

उसके गाँव ही नहीं, आसपास के सभी गाँवों के लोग उस दिन मुख्य-मंत्री जी का भाषण सुनने पहुँचे थे। ऐसा लग रहा था मानो सोमनाथ का 'कौतिक' (मेला) हो रहा हो। कुछ गाँव नंगरा-निशाण लेकर आ रहे थे और कुछ गाँव झोड़े लगाते गाते-बजाते। रामगंगा की घाटी नगाड़ों की धूमधाम और नरसिंह की तू-तू-तू से गूंज रही थी। बालक बच्चीराम इतना बड़ा जनसमूह जीवन में पहली बार देख रहा था। इलाके के सबसे बड़े कौतिक में भी इतने लोग नहीं आते, ऐसा कहते उसने लोगों को अपने कानों कई बार सुना। वह चकित था—आखिर मुख्यमंत्री जी क्या होते हैं, जिन्हें देखने इतने गाजे-बाजे के साथ, इतना अपार जनसमूह उमड़ा हुआ है। यह बात उसने अन्य कई लड़कों के साथ, जो उसी की तरह चकित थे, अपने पंडितजी से पूछी। पंडितजी ने लड़कों को समझाया था,

"मुख्यमंत्री माने प्रदेश के सबसे बड़े मंत्री। बस समझ लो, हमारे यहाँ के राजा।" पंडितजी को कोई और इससे सरल और प्रभावशाली उपमा नहीं सूझ पायी थी कि कहते, मुख्यमंत्री जी जनता के सेवक होते हैं। तब शायद लड़के पूछ बैठते, सेवकों के लिए झंडियाँ-तोरण क्यों ? नंगरा-निशाण क्यों ? गीत-गुंजार क्यों ? राजा की उपमा से सब ठीक बैठ रहा था—प्रजा, जनता, राजा, नेता—जो भी कहा जाय।

जनता को मैदान में मंत्री जी के आने से कई घंटों पहले बैठा दिया गया। लाउडस्पीकर पर देशभक्ति के रिकार्ड सुनवाये जा रहे थे और बीच-बीच में कोई छोटा-मोटा नेता खद्दर के कपड़े पहने गाँधी टोपी लगाये कह उठता था, 'भाइयो, माननीय मुख्यमंत्री जी तुरन्त पधारने वाले हैं। रास्ते में उन्हें कई जगह रुकना पड़ रहा है और जनता के प्रेम को ठुकराना क्योंकि उनके लिये संभव नहीं है, इसलिए कुछ देर हो रही है। आप लोग शांति पूर्वक बैठिये।' आदि-आदि। पर भूख-प्यास और धूप से बच्चों का तो क्या, बड़ों का भी बुरा हाल था। किसी तरह कुल मिला कर छह घंटा लेट मुख्यमंत्री जी की कार वहाँ पहुँची। उनके आगे पुलिस, जिलाधीश और भी न जाने किस-किसकी गाड़ी थी। पीछे भी कुछ गाड़ियाँ थीं, जिनमें जिला कमेटी के अध्यक्ष, सचिव तथा पार्टी के अन्य छोटे-बड़े नेता-गण तथा शहर व इलाके के प्रमुख व्यक्ति चल रहे थे। मुख्यमंत्री जी के कार से उतरने से लेकर जब तक वह मंच पर नहीं पहुँच गये, 'मुख्यमंत्री जी जिन्दाबाद' के नारे लगते रहे थे। फिर कुछ सम्मान-पत्र पढ़े गये, कई छोटे-मोटे भाषण हुए और इसके पश्चात् एक व्यक्ति, जो जवाहर कट पहने, सोने के फ्रेम का चश्मा चढ़ाये हुए थे तथा मुख्यमंत्री जी के बहुत ही निकट के लग रहे थे, भाषण देने खड़े हुए।

उन्होंने कहा (उनका नाम बच्चीराम को अब याद नहीं आ रहा है), 'भाइयो ! मुख्यमंत्री जी भारत की शोषित-पीड़ित जनता के वास्तविक प्रतिनिधि हैं। उनका जीवन बापू के आदर्शों का साक्षात् उदाहरण है। अपने सादा जीवन तथा उच्च विचार के लिए वह उस समय से प्रसिद्ध हैं जब वह विद्यार्थी थे। अभी वह पढ़ ही रहे थे कि उन्होंने देश की पुकार पर अपना सब कुछ छोड़ दिया तथा आजादी के लिए जेल का वरण किया।

शायद आप लोगों को ज्ञात न हो, मंत्री जी एक निर्धन परिवार में पैदा हुए थे। उन्हें रोज गंगा पार पढ़ने जाना पड़ता था। घर में इतना पैसा नहीं था कि नाव वाले को धेला-आना रोज देते। आप लोगों को सुन कर आश्चर्य होगा,' उस व्यक्ति ने कुछ नाटकीय ढंग से कहा, 'कि मंत्री जी एक मील चौड़ी गंगा को रोज दो बार तैर कर पार करते थे !' इस बात पर इतनी तालियाँ बजीं कि लगा, कानों के परदे फट जायेंगे तथा 'मुख्यमंत्री जी अमर रहें,' 'मुख्यमंत्री जी जिन्दावाद' के नारों से ऐसा कुहराम मचा कि बच्चीराम को लगा, कहीं आकाश ही न फट-फटा जाये। यह सब उसने अपने कानों से सुना था—मंत्री जी गरीब घर में पैदा हुए। अपनी मेहनत से आगे बढ़े। पैसे न होने से वह रोज एक मील चौड़ी गंगा तैर कर पार करते थे। बाप रे बाप ! वह सोच नहीं पा रहा था कि कोई नदी इतनी चौड़ी भी हो सकती है क्या ? इसके अलावा वह यह भी नहीं समझ सका कि कोई बच्चा एक मील एक साथ कैसे तैर सकता है। पर जब कहा जा रहा था, मंच से, लाउडस्पीकर पर, तो गलत थोड़े ही होगा। और वह भी मान गया था कि मंत्री जी महान हैं।

इसके बाद मालाओं से लदे मंत्री भाषण देने उठे थे। उन्होंने अपने गले से निकाल कर कुछ फूलों की मालाएँ मंच के सामने ही बैठे धूप व भूख से कुम्हलाये बच्चों पर फेंकी और जोर-जोर से हाथ हिलाया था। बच्चों में खलबली मची और माला की छीना-झपटी में कुछ बच्चों को चोटें भी आयीं। मंत्री जी के इस वात्सल्य पर एक बार फिर जोरों से तालियाँ बजी थीं और जब मंत्री जी ने वरदान देने की मुद्रा में जनता को चुप होने को कहा, तो लोग एकदम ऐसे शांत हो गये, जैसे किसी ने रेडियो बन्द कर दिया हो। वह सफेद खादी में ऐसे दैदीप्यमान लग रहे थे जैसे अभी-अभी कोई देवदूत आकाश से उतरा हो। और मुख्यमंत्री जी ने जो कहा, वह बच्चीराम की सारी जिन्दगी के लिए अति महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ था। यद्यपि उसकी समझ में मुख्यमंत्री जी की बड़ी-बड़ी बहुत-सी बातें नहीं आ पायीं, पर वह यह तो समझ ही गया कि गरीबी आज किसी की राह में कोई रोड़ा नहीं है। हमें जो चाहिए, वह है मेहनत, लगन और श्रद्धा। जिसमें यह तीनों हैं, वह हिमालय की चोटी पर चढ़ सकता है। बड़े-से-बड़े

समुद्र को लाँघ सकता है। वह क्या नहीं कर सकता ! हम समाजवादी समाज के निर्माण के लिए एकजुट हो रहे हैं। हमें एक सुखद और खुश-हाल भविष्य के लिए वर्तमान से टक्कर लेनी है। एक, ऐसे भविष्य के लिए, जिसमें न कोई गरीब होगा और न कोई अमीर। जिसमें महल नहीं होंगे, पर झोंपड़ियाँ भी नहीं होंगी। हम अपने देश में ऐसा रामराज्य लाना चाहते हैं, जिसमें कोई भूखा नहीं सोयेगा। जिसमें कोई नंगा नहीं रहेगा। उन्होंने बच्चों की ओर, जो मंच के निकट ही आगे बैठे थे, इशारा करते हुए कहा था, 'ये बच्चे देश का भविष्य हैं। आने वाले कल के निर्माता हैं, कर्णधार हैं। इन्हीं में से कई लोग आगे चल कर बड़े-बड़े वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर और नेता बनेंगे। हमें बहुत बड़े-बड़े काम करने हैं और इन सबके लिए हमें हजारों-लाखों लगनशील और देशभक्त लोगों की आवश्यकता है। तो बच्चो, तुम्हें यह बातें सीखनी हैं।' फिर उन्होंने कहा था, 'हम आपके सेवक हैं। आपने हमें अपना प्रतिनिधि चुन कर सेवा का जो मौका दिया, हम उसको सार्थक करने में जी-जान से जुटे हुए हैं। पर आप लोगों को भी धैर्य से काम लेना होगा। निर्माण के इस महान कार्य में हमारा हाथ बँटाना होगा, तभी हम सब आगे बढ़ पायेंगे।'

बच्चीराम के कच्चे दिल में अचानक ही यह सब बातें बहुत गहरे बैठ गयीं कि उसे देश के लिए कुछ करना है। आगे बढ़ना है। गरीब होना कोई रुकावट नहीं है। धैर्य जरूरी है। और उसने सभा से लौटते हुए यह ठान लिया कि वह आगे बढ़ कर रहेगा और मुख्यमंत्री जी की दी हुई उस प्रेरणा का ही प्रताप था कि वह किसी तरह गिरता-पड़ता पाँच से आठ कक्षा तक पहुँच गया था, अन्यथा शायद वह पाँच भी पास न कर पाता। यह बात और है कि पाँच से आठ तक पहुँचने में पंडितजी के सिखलाये गणित के हिसाब से तीन की जगह पाँच साल लग गये और उसे पता भी नहीं चला कि हिसाब गड़बड़ कहाँ हुआ, क्योंकि लोग अब भी पाँच जमा तीन कहते ही आठ कहते हैं। इसी बीच उसको यह धुन भी लगी कि उसे इंजीनियर बनना है। फिर इंजीनियर बनना उसके पैतृक व्यवसाय के निकट भी था।

यह सब सोचता वह दो-तीन फर्लांग और आ चुका था। उसने कमर पर हाथ रख कर गाँव की ओर देखा। गाँव में दिया-बत्ती हो चुकी थी। रोशनियां टिमटिमा रहीं थीं, जो उसकी आंखों में तैर रहे पानी और पसीने के कारण उतराने-सी लगी थीं। बस अगले ही मोड़ पर पनचक्की थी जोशी जी की। उसने सोच लिया, वहाँ तब तक बैठा रहूँगा जब तक कोई घर से आ ही न जाये। संदेश वह भिजवा ही चुका था।

...ऐसा नहीं था कि वह उस दौरान निपट बेवकूफ था या उसकी समझ में कुछ नहीं आता था, पर शरीर तो शरीर था ना। उसके 'बाज्यू' भी यह बात समझते थे, पर करें क्या ? कभी-कभी पंडितजी कहते, 'क्यों रे ! फीस माफ है तो इसका मतलब यह तो नहीं कि तू अंगद के पैर की तरह यहीं जमा रहे।' अंगद का पैर जल्दी ही उखड़ गया। आठवीं में आते-आते उसके पिता के लिए गृहस्थी की गाड़ी और अधिक खींच पाना मुश्किल हो गया। उनका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहने लगा। दमा लगातार उन्हें सता रहा था। अक्सर उसे स्कूल से नागा कर घर में रह लोहारी का छोटा-मोटा काम करना पड़ता। पहले वह आठ-दस दिन स्कूल नहीं गया। फिर एक महीना और इसके बाद स्कूल जाना बिलकुल ही बन्द हो गया। यह सब इतने स्वाभाविक ढंग से हुआ कि स्वयं उसको कभी यह बात नहीं खटकी कि उसने स्कूल जाना छोड़ दिया है। पर मुख्यमन्त्री जी का उदाहरण कई बार उसे बहुत बाद तक उद्वेलित करता रहा कि देखो, उन्होने कैसे पढ़ा और एक मैं हूँ !

'घट' (पनचक्की) आ चुका था, पर वहाँ कोई नहीं था। वह वहीं सीमेंट के प्लास्टर-वाली चैहद्दी पर बैठ गया। 'घट' चल रहा था। हलकी संगीतमय आवाज-सा करता। तब जोशी जी कहाँ गये ? शायद दिशा-पानी के लिए गये हों। इस 'घट' से उसे प्यार था। जोशी जी होते, तो उसे बीड़ी-सिगरेट कुछ पिलाते और संभव हो तो चाय भी बन सकती थी। आते ही होंगे, सोचकर वह फिर उन्हीं बातों में खो गया।

...बच्चीराम ने पिता का काम धीरे-धीरे पूरी तरह सम्हाल लिया और दिल लगा कर ऐसा काम करने लगा कि थोड़े ही दिनों में उसकी कारीगरी की धूम मच गयी। कोई चीज ऐसी नहीं थी, जो उसके पास लायी

जाये और वह सुधार न दे। कोई अपनी बन्दूक लाता, कोई टूटी-फूटी पुरानी घड़ी। एक बार तो उसने एक बिल्कुल कंडम ग्रामोफोन भी ठीक कर दिया था। यही कारण था कि लोग उसका सम्मान करते और कहते वह किसी इन्जीनियर से कम नहीं है। उसकी कारीगरी का सबसे बड़ा कमाल था गाँव के ही नीचे 'गधेरे' में लगी यही पनचक्की। जोशी जी की यह चक्की सिर्फ बरसात में ही चला करती थी और बाकी महीने पानी की कमी के कारण बन्द रहती। एक बार उसने 'गधेरे' की जांच की। सारे साल 'गधेरे' में कोई चार या छह इंच से ज्यादा पानी नहीं रहता था। उसने रामनगर से दो बालबियरिंग मँगाये और अपने घर पर ही लोहे और अल्यूमिनियम का एक ऐसा हल्का 'फितणा' (प्रेपेलर) तैयार किया जो बहुत ही कम पानी से घूमता था। इस तरह पनचक्की बारहमासी हो गयी थी। गांववालों को दो मील दूर रामगंगा की पनचक्कियों में अब नहीं जाना पड़ता था और लोग उसके इस उपकार के लिए गुण गाते नहीं अघाते थे। चाहे वह अपने गांव का या आसपास के गाँवों का इंजीनियर ही क्यों न हो गया हो, पर ये सब बातें उसे वास्तविक इंजीनियर कभी नहीं बना पायीं। वैसे उसका काम देख कर कोई भी कह सकता था कि यदि उसे ट्रेनिंग मिली होती, तो यह गँवई आदमी अच्छे-अच्छे इंजीयरों से टक्कर ले सकता था। पर वह आज भी गांववालों के कुटले-दातुले ठोंकता-पीटता किसी तरह अपने परिवार को पालता है।

अब उसे याद भी नहीं पड़ता कि कब 'बाज्यू' ने उसका ब्याह कर दिया, कब उसके पांच बच्चे हो गये, कब बाज्यू स्वर्ग सिधार गये और कब स्वयं वह और उसकी पत्नी बूढ़े हो गये। हां बूढ़े ही समझो। पचास-बावन में उसके पिता चल बसे थे। शायद दादा भी इसी उम्र में परलोक सिधारे हों। फिर जब यही परम्परा है, तो क्या वह सौ साल जियेगा? पैंतीस-चालीस का वह हो गया है, दस-पन्द्रह साल जिन्दगी के और हैं। अब यह संध्या वेला नहीं तो क्या जवानी है? इस सबका उसे कोई गम नहीं है। गम है, तो इस बात का कि देखो फीस माफ होने के बावजूद वह अपने चनिया को नहीं पढ़ा पायेगा। चौदह साल का चनिया घन चलाने लगा है। और बहुत-से छोटे-मोटे काम स्वयं ही कर देता है। उसे अपना बचपन याद

आता है। उसने भी इसी उम्र में लोहारगीरी सीख ली थी और अब चनिया भी किसी दिन अचानक ही स्कूल छोड़ यह सारा भार अपने कन्धे पर ले लेगा। इन किशोर कन्धों पर इतना भार डालना उसे साल जाता है, पर यह सब कुछ स्वयं ही हो जायेगा, न चाहते हुए भी। उसका शरीर लगभग जबाव दे ही चुका है और एक दिन ऐसा बैठेगा कि खड़ा नहीं हो पायेगा। वही सब वह अपने बच्चों को विरासत में छोड़े जा रहा है, जो उसके पिता या दादा छोड़ गये भुखमरी, गरीबी और हाड़तोड़ मेहनत।

पर आज उसकी समस्या कुछ और ही है। उसके दिमाग में आज घरेलू समस्याएँ नहीं हैं और न है अपने धीरे-धीरे बढ़ रहे दमे की चिन्ता। 'पधान' की दुकान में अखबार में उसने भूतपूर्व मुख्यमन्त्री की मृत्यु का समाचार पढ़ा था, जिसके कारण वह आज इतना उद्वेलित था। मुख्यमन्त्री जी का फोटो उसे पहचानने में देर नहीं लगी थी। ये वही मुख्यमन्त्री थे, जिनको सुनने बचपन में वह आठ मील चल कर गया था, जिनकी प्रेरणा से उसने तीन क्लासें पाँच साल में पार की थीं। उसने पूरी खबर पढ़ी। उनके मरने का बच्चीराम को वाकई अफसोस हुआ, देखो, कितने बड़े आदमी थे। देश के लिए बेचारों ने क्या नहीं किया। पर एक बात उसकी समझ में नहीं आ पायी कि मुख्यमन्त्री कैसे मरे। समाचार में कहा गया था कि भूतपूर्व मुख्यमन्त्री जी गंगा में नौका विहार कर रहे थे कि उनकी नाव उलट गयी। अखबार में साफ लिखा था, नाव में बैठे अन्य दो लोग तो बच गये, पर भूतपूर्व मुख्यमन्त्री जी डूब गये। अखबार ने यह कहीं नहीं लिखा था कि मन्त्री जी इतने अच्छे तैराक होने के बावजूद क्यों डूबे ? उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर यह सब लिखा क्या है ?

अचानक कहीं नजदीक से ही आवाज आयी, 'बाज्यू हो ऽओ ऽऽ।' और उसकी विचार-श्रृंखला को विराम लग गया।

'चनिया।' बच्चीराम हड़बड़ा कर खड़ा हो गया। असल में बच्चीराम को इस बात का कम दुख था कि मुख्यमन्त्री जी स्वर्ग सिधार गये;

बल्कि उसका असली दुख यह था कि जब वह बचपन में दो मील रोज तैरा करते थे, तो फिर डूबे क्यों ?

पर लगता है, शायद इस बात का जवाब बच्चीराम को कभी नहीं मिल पायेगा ?

(1979)